कि जीवन धर्म-विवर्जित यत् ?

धर्म-हीन जीवन कोई जीवन है ?

जैसे पुष्प की शोभा सौरभ से, नदी की शोभा जलधारा से और शरीर की शोभा प्राणों से है, उसी प्रकार जीवन की शोभा धर्म से है। धर्ममय जीवन ही जीवन है।

○

भारतीय मानव की इसी भव्य-भावना के कारण ही हजारों-तीर्थंकर, धर्म-प्रवर्तक और पैगम्बर यहाँ पैदा हुए, धर्म का सन्देश लेकर हजारों धर्मप्रवर्तक यहाँ विदेशों से आए, सभी के सन्देशों को, धर्मवचनों को, भारत की मिट्टी ने पचाया, अपनाया और फलने-फूलने का अवकाश दिया। यही कारण है कि भारत में हजारों धर्म-सम्प्रदाय हैं और घर-घर में अलग-अलग धर्म-सम्प्रदायों की खिचड़ी भी है, एक ही घर में पिता यदि वैष्णव है, तो पुत्र शैव है, माता राम की उपासिका है, तो पुत्री कृष्ण की, और पुत्रवधू जैनधर्म को मानती है, तो पौत्रसाहब बौद्ध धर्म मतावलम्बी हैं। मतलब यह कि भारत में प्रत्येक घर में सभी व्यक्ति किसी न किसी धर्म-सम्प्रदाय को मानते होंगे, कोई भी बिना धर्म-सम्प्रदाय का नहीं होगा।

एक पाश्चात्य दार्शनिक ने भारत की यात्रा करने के पश्चात् यात्रा के मधुर संस्मरण लिखते हुए लिखा था—"भारतवर्ष धर्मों का चिड़ियाघर है। जैसे चिड़ियाघर में कोई फ्रांस की चिड़िया है, तो कोई जर्मनी की, तो कोई रूस की है, तो कोई अमेरिका की, कोई इंग्लैण्ड की है, तो कोई अरब की, कोई अफगानिस्तान की है, तो कोई पाकिस्तान की। जैसे रंग-बिरंगे रंगों की चिड़ियाँ चिड़ियाघर में होती हैं, वैसे ही नाना रंगढंग के, नाना तरह के धर्म भारतवर्ष में हैं। कोई पूजा को महत्त्व देता है, तो कोई [illegible] को, कोई छापा-तिलक को, तो कोई दाढ़ी-चोटी को, कोई रंगबिरंगे वस्त्रों को, तो कोई श्वेत-काले या गेरुए वस्त्रों को ही।"

हाँ तो, भारतवर्ष धर्मों का संगम-स्थल है। यहाँ इस्लाम, ईसाई, सिक्ख, पारसी, जैन, बौद्ध और वैष्णव आदि अनेक धर्मों को मानने वाले हैं, परन्तु यहाँ के सभी धर्मवालों ने साध्य मोक्ष को माना है, और उसका साधन धर्म को।

यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि जो वस्तु जितनी अधिक सरल और सुप्रसिद्ध होती है, उसकी व्याख्या उतनी ही अधिक जटिल और पेचीदा होती है। इन्सान दिन-रात धर्म-धर्म पुकारता है, किन्तु धर्म क्या है? अधर्म क्या है? धर्म किसे कहना चाहिए? और अधर्म किसे? इसे बहुत ही कम समझता है। विश्व के प्रांगण में जितने भी दार्शनिक हुए हैं, विचारक आये हैं, व्याख्याकार आये हैं, धर्मसंस्थापक या धर्म-तीर्थंकर हुए हैं, इन सभी ने धर्म शब्द पर विभिन्न दृष्टिकोणों से चिन्तन किया है, मनन किया है, जिसका परिणाम यह हुआ कि संसार में धर्म शब्द की अनेक परिभाषाएँ बन गयी हैं। [illegible] ने एक स्थान पर कहा है कि धर्म की लगभग १०,००० [illegible] की गई हैं फिर भी उनमें सभी धर्मों का समावेश नहीं होता। आखिर जैन, बौद्ध और [illegible] हिन्दू धर्म इन व्याख्याओं से बाहर ही रह जाते हैं। इस [illegible] प्रयोग हुआ है, जितनी व्याख्याएँ हुई हैं, भिन्न-भिन्न [illegible] कोई सर्वसम्मत [illegible] सभी [illegible] को मान्य हो।

[illegible] —[illegible] धर्म है।' कोई कहता है—लम्बी चोटी रखना

हास्यास्पद है। भगवान महावीर जैसे तत्त्वचिन्तक ने तो धर्मतत्त्व के निर्णय के लिए, संशयास्पद स्थिति में पड़ने के बजाय यह निर्णय दिया—

'पन्नासमिक्खए धम्मतत्त तत्तविणिच्छियं'

'वास्तविकता की कसौटी पर परखे हुए धर्मतत्त्व की अपनी सद्असद् विवेकशालिनी बुद्धि से ही समीक्षा की जा सकती है।' अब हमें यह भी विचार कर लेना होगा कि पाश्चात्य और पौर्वात्य दार्शनिकों, महामानवों और तीर्थंकरों ने धर्म शब्द की क्या परिभाषा की है? सर्वप्रथम धर्म के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ को लें तो **'धारणाद् धर्मः'** जो धारण किया जाए अथवा **'दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः'** दुर्गति में पड़ते हुए आत्मा को जो धारण करके रखता है वह धर्म है, इस प्रकार के दो अर्थ निकलते हैं। इन दोनों अर्थों का तात्पर्यार्थ यह हुआ कि 'ऐसे नियम, ऐसे सद्गुण, ऐसे रीति-रिवाज या ऐसे सत्कर्म, ऐसी नीति और ऐसे आचरण जो दुर्गति यानी दुःख में पड़ते हुए आत्मा को बचावें और सुख की ओर ले जा सकें, वह धर्म है। इसी दृष्टि को लेकर वैशेषिक दर्शनकार ने धर्म का अर्थ किया है—

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः'

'जिस बात से, जिस आचरण से या नीति नियम से मानव-समाज की इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण की सिद्धि हो वह धर्म है।' स्वर्गीय किशोरलाल मश्रुवाला के शब्दों में कहें तो—'जिससे समाज का धारण, पोषण, रक्षण और सत्त्वसंशोधन हो सके, वह धर्म है। और अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें तो 'विश्व में वास्तविक गुणों की वृद्धि जिससे हो सके, वह धर्म है,' यह अर्थ फलित होता है। जैनदर्शन के महान् आचार्य कुन्दकुन्द ने 'वत्थु सहावो धम्मो' वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा है। प्रत्येक वस्तु का अपना-अपना स्वतन्त्र स्वभाव होता है, वही स्वभाव उस वस्तु का धर्म माना जाता है। जैसे अग्नि का स्वभाव उष्णता है, पानी का स्वभाव शीतलता है। दार्शनिक दृष्टि से वहाँ वस्तु के गुण-धर्म को, स्वभाव को धर्म कहा गया, किन्तु विश्व के मानव-समाज की दृष्टि से, आध्यात्मिक दृष्टि से इस परिभाषा के अनुसार धर्म का अर्थ होगा—'आत्मा का, विश्व के मानव-समाज का, अपने स्वभाव में रहना।' तात्पर्य यह है कि [illegible] समाज के [illegible] रहने में और उसके विचारशोधन, आचारशोधन और [illegible] होते रहने से ही समाज अपने स्वभाव में टिका रह सकता है, और [illegible] सुख-शांति, कल्याण या अन्य सिद्धियाँ हो सकती हैं।

के अन्दर रहने वाले अपने असीम स्वभाव का ज्ञान धर्म है।' मेयर्स ने धर्म की व्याख्या की है—"मानव आत्मा का ब्रह्माण्ड विषयक स्वस्थ और साधारण उत्तर।" मनोविज्ञान शास्त्री आमेस ने धर्म की परिभाषा की—"ईश्वर से प्रेम करना।" मक्टागार्ट ने धर्म का लक्षण किया है—"चित्त का वह भाव जिसके द्वारा हम विश्व के साथ एक प्रकार के मेल का अनुभव करते हैं।" जेम्स फ्रेजर ने धर्म का विलक्षण ही अर्थ किया है। उसके शब्दों मे 'धर्म, मानव से ऊँची गिनी जाने वाली उन शक्तियों की आराधना है, जो प्राकृतिक व्यवस्था व मानव-जीवन का मार्गदर्शन व नियंत्रण करने वाली मानी जाती है।'

इन सब लक्षणों पर विचार करने से यही फलित होता है कि धर्म मानवमात्र के लिए ही नहीं ? किन्तु प्राणी मात्र के अभ्युदय के लिए, सुख-वृद्धि के लिए, धारण-पोषण के लिए एक सुव्यवस्था का नाम है।

धर्म मानव-जीवन को सुखी, स्वस्थ और शान्त बनाने के लिए एक वरदान लेकर पृथ्वी पर अवतरित हुआ है। धर्म हृदय में घुसी हुई दानवीय वृत्ति को निकालता है और मानवता की पुण्य-प्रतिष्ठा करता है। दूसरे शब्दों मे कहूँ तो धर्म दानव को मानव बनाता है, और मानव को देव। धर्म व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने वाला है। वह व्यक्ति, समाज और समष्टि की मानसिक बीमारियों की, आत्मिक विकारों की चिकित्सा करने वाला है। इसके कारण मानव मर्त्य जगत् मे सुखों का स्वर्ग उतार सकता है, इसके कारण मानव विश्व के सभी प्राणियों के साथ अपना अनुबन्ध जोड कर कर्त्तव्य-पालन कर सकता है, इसके कारण विश्व की सुन्दर व्यवस्थिति हो सकती है, इसके कारण समाज मे सुख-शान्ति की लहरें फैल सकती है।

महामात्य चाणक्य के शब्दों मे 'सुखस्य मूल धर्म', समस्त सुखों का मूल धर्म है। वह मनुष्यों के टूटते हुए हृदयों को जोड़ने वाला है, बिगड़ते हुए सम्बन्धों को स्थिर करने वाला है, विशृंखलित होती हुई व्यवस्थाओं को सुशृंखलित करने वाला है, पृथक्-पृथक् होती हुई जीवन-धारणाओं को एक ध्येय की ओर ले जाने वाला है। धर्म ससार के लिए अमृत है, मानव-जगत् के लिए आशीर्वाद रूप है, संस्कृति का निर्माता है, जीवन-निर्माण मे सहायक है। धर्म की प्रबल प्रेरणा के बिना मानव-जीवन के किसी भी क्षेत्र मे सफलता और सिद्धि नही मिल सकती। फिर चाहे वह राजनैतिक क्षेत्र हो, चाहे आर्थिक, चाहे सामाजिक हो अथवा सांस्कृतिक, चाहे शैक्षणिक हो, चाहे साम्प्रदायिक। सर्वत्र धर्म के प्रवेश बिना वास्तविक कार्यसिद्धि दुष्कर है। धर्म का जीवन के सभी क्षेत्रों मे सार्वभौम प्रवेश होने पर ही ससार मे स्वर्गीय आनन्द के फव्वारे छूट सकते हैं, ससार स्वर्गीय संगीत की मधुरता पा सकता है।

किन्तु खेद है कि आज का मानव धर्म के असली रहस्य को भूल गया है और भूलता जा रहा है। जैसे कोई व्यक्ति जीना तो चाहता हो, लेकिन खान न ले, यह कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार जो व्यक्ति, समाज या समष्टि अपने अस्तित्व को

सुन्दर ढग से रखना चाहते हो, अपना जीवनयापन सुख-शान्ति के साथ करना चाहते हो, वे यदि धर्मरूपी प्राण की उपेक्षा करदे, धर्म को भूल जाँय तो क्या उनका सुख-शान्तिपूर्ण अस्तित्व खतरे मे नही पड जायेगा ? इसीलिए वैदिक धर्म के महान् ऋषि ने सारे ससार को सावधान करते हुए कहा—

'धर्मो विश्वस्य जगत प्रतिष्ठा'

'धर्म सारे जगत् का प्रतिष्ठान है, आधार है, प्राण है।' यदि मानव-जाति मे धर्म है तो उसका अस्तित्व है, धर्म नही है तो अस्तित्व मे सन्देह है। यदि हम धर्म को सुरक्षित रखेगे तो वह हमारी—मानव-जाति की—रक्षा करेगा और यदि हम धर्म को खो बैठेगे, उपेक्षा कर देगे, धर्म को खत्म कर देगे तो धर्म हमारा अस्तित्व खत्म कर देगा, नष्ट कर देगा। महाभारत के वनपर्व मे इसी बात को वेदव्यासजी ने कहा है—

'धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षित '

इसी बात को मैं और अधिक स्पष्ट कर देता हूँ। मानलो, एक क्षेत्र ऐसा है, जहा कोई मानव-धर्म का नाम तक नही जानता, धर्म की भावना तक उनमे नही है, धर्म का आचरण भी उनके जीवन मे नही है, न उन्हे धर्म का स्वरूप समझाने वाला कोई धार्मिक व्यक्ति भी उनके बीच मे है। अब वे धर्म को न समझने के कारण अपने कर्तव्यो का निर्धारण नही कर सकते, अपने नीति-नियम नही बना सकते, अपने पारस्परिक व्यवहार की सीमा-रेखाए नही खीच सकते। सभी आपस मे झगडते है, खाने-पीने की चीजो के लिए आपस मे छीना-झपटी करते है, एक-दूसरे को जरा-जरा-सी बात मे मार डालने का उपक्रम करते है, एक-दूसरे की चीजे चुरा लेते है, किसी के बीमार होने पर कोई दूसरा सेवा नही करता, सहायता नही करता, कोई किसी की स्त्री के साथ सहवास कर लेता है, कोई किसी दूसरे की आवश्यकताओ पर ध्यान न देकर अपने पास अधिक से अधिक सग्रह करने का प्रयत्न करता है, न किसी को भगवान का डर है, न नरक का भय है और न स्वर्ग का आकर्षण है, केवल सघर्ष का वातावरण छाया हुआ है। भला, बताइये, ऐसी सूरत मे वहा के मानव-समाज की क्या स्थिति होगी ? क्या उनका अस्तित्व सुरक्षित रह सकेगा ? क्या उनका [illegible] और नरक से हो सकेगा ? क्या उनके मन मे दूसरो के प्रति शुभ या [illegible] भावनाए आ सकेगी ? [illegible] सकेगे, या दूसरो को भी

अपने कब्जे मे नही करता, अधिक सग्रह नही करता और वैवाहिक मर्यादा होने के कारण दूसरे की स्त्री को माता-बहिन की पवित्र दृष्टि से देखता। इस प्रकार उनके सामाजिक जीवन मे सुख का सागर ठाठे मारता हुआ नजर आता। यह है 'धर्मो रक्षति रक्षित' का रहस्य !

इसलिए धर्म के रहस्य को परखिए, उसकी उपयोगिता को अन्तस्तल मे उतारिए, उसके व्यावहारिक पहलू को आत्मसात् कीजिये। केवल 'धर्म-धर्म' चिल्लाने से धर्म जीवन मे नही आ जाता है। धर्म आचरण की वस्तु है, वह विज्ञापन की चीज नही, वह आडम्बर और थोथे प्रदर्शन की वस्तु नही है।

आजकल जगत् मे एक नया नारा लगाना शुरु हो गया है, धर्मो के खिलाफ ! एक वर्ग धर्म को, धर्म के नाम को उडा ही देना चाहता है। वह कहता है इन धर्मो ने सारे विश्व को रसातल मे पहुँचा दिया है, धर्मो ने मानव-जाति को बुरी तरह लडाया, भिडाया है, मल्लयुद्ध कराया है, इसलिए इन धर्मो की तो जड ही उखाड डालनी चाहिए। वास्तव मे, ऐसा कहने वाले लोगो की बात मे भी कुछ तथ्य है, इससे इन्कार नही किया जा सकता। परन्तु ऐसे लोग धर्म के असली स्वरूप को न पहचान कर, धर्म का मर्म न समझकर धर्म-भ्रम को, धर्म-पथो को, सम्प्रदायो को, धर्म के नाम से चलने वाले निष्प्राण क्रियाकाण्डो को ही धर्म समझ बैठे है और उनमे पारस्परिक सघर्ष, कलह और द्वेष देखकर ही वे चट कह बैठते है गोली मारो, इस धर्म को।

धर्म निष्प्राण क्रियाओ मे नही है, धर्म बिना सोचे-समझे भूखे-नगे रहने मे नही है, धर्म किसी प्रकार की वेशभूषा मे नही है, धर्म अमुक प्रकार के तिलक-छापो मे नही है, धर्म चौके-चूल्हे मे नही है, धर्म-लम्बे चौडे उपदेश मे भी नही है, धर्म स्वर्ग के नाम पर हुडी लिख देने या स्वर्ग के सब्जबाग दिखाने मे नही है, किसी के पीछे जीवित ही अग्नि मे जल मरने मे, आँसू बहाने मे, धर्म नही है, धर्म बिना समझे शास्त्रो को घोटने मे नही है, धर्म बेईमानी से, छल-प्रपञ्च से कमाकर दान देने मे नही है, धर्म मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर, स्थानक, उपाश्रय, मठ, गुरुद्वारा या रामद्वारा आदि स्थानो मे ही नही रखा हुआ है। धर्म हृदय मे, जीवन मे और सही सोचने व सही कार्य करने मे है। धर्म अहिंसा मे है, सत्याचरण मे है, प्रेम मे है, न्याय मे है, सदाचार और सद्-विचार मे है। धर्म अपने को जानने, पहचानने और समझने मे है। धर्म सबके हित मे अपना हित समझने मे है। धर्म जिम्मेवारी और कर्त्तव्य-पालन मे है। धर्म अमीरी-गरीबी, जात-पात, साम्प्रदायिकता और प्रान्तीयता आदि भेदो को मिटाने मे है, धर्म दीन-दुखियो को गले लगाने मे है। धर्म ईमानदारी से व्यवहार करने मे है, धर्म कम से कम वस्तुओ से निर्वाह करने मे है धर्म सत्य-अहिंसा पर अटल रहने मे है, धर्म जैसा कहना वैसा करके दिखाने मे है। धर्म रूढियो, अन्धविश्वासो, मिथ्याधारणाओ, कुपरम्पराओ और गलत सस्कारो को मिटाने मे है, धर्म विषम से विषम परिस्थिति मे

सुन्दर ढग मे रखना चाहते हो, अपना जीवनयापन सुख-शान्ति के साथ करना चाहते हो, वे यदि धर्मरूपी प्राण की उपेक्षा करदे, धर्म को भूल जॉय तो क्या उनका सुख-शान्तिपूर्ण अस्तित्व खतरे मे नही पड जायेगा ? इसीलिए वैदिक धर्म के महान् ऋषि ने सारे संसार को सावधान करते हुए कहा—

'धर्मो विश्वस्य जगत प्रतिष्ठा'

'धर्म सारे जगत् का प्रतिष्ठान है, आधार है, प्राण है।' यदि मानव-जाति मे धर्म है तो उसका अस्तित्व है, धर्म नही है तो अस्तित्व मे सन्देह है। यदि हम धर्म को सुरक्षित रखेगे तो वह हमारी—मानव-जाति की—रक्षा करेगा और यदि हम धर्म को खो बैठेगे, उपेक्षा कर देगे, धर्म को खत्म कर देगे तो धर्म हमारा अस्तित्व खत्म कर देगा, नष्ट कर देगा। महाभारत के वनपर्व मे इसी बात को वेदव्यासजी ने कहा है—

'धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षित'

इसी बात को मैं और अधिक स्पष्ट कर देता हूँ। मानलो, एक क्षेत्र ऐसा है, जहा कोई मानव-धर्म का नाम तक नही जानता, धर्म की भावना तक उनमे नही है, धर्म का आचरण भी उनके जीवन मे नही है, न उन्हे धर्म का स्वरूप समझाने वाला कोई धार्मिक व्यक्ति भी उनके बीच मे है। अब वे धर्म को न समझने के कारण अपने कर्तव्यो का निर्धारण नही कर सकते, अपने नीति-नियम नही बना सकते, अपने पारस्परिक व्यवहार की सीमा-रेखाएँ नही खीच सकते। सभी आपस मे झगडते है, खाने-पीने की चीजो के लिए आपस मे छीना-झपटी करते है, एक-दूसरे को जरा-जरा-सी बात मे मार डालने का उपक्रम करते है, एक-दूसरे की चीजे चुरा लेते है, किसी के बीमार होने पर कोई दूसरा सेवा नही करता, सहायता नही करता, कोई किसी भी स्त्री के साथ सहवास कर लेता है, कोई किसी दूसरे की आवश्यकताओ पर ध्यान न देकर अपने पास अधिक से अधिक सग्रह करने का प्रयत्न करता है, न किसी को भगवान का डर है, न नरक का भय है और न स्वर्ग का आकर्षण है, केवल स्वार्थ का गौरव छाया हुआ है। भला, बताइये, ऐसी सूरत मे वहाँ के मानव-समाज की क्या स्थिति होगी ? क्या उनका अस्तित्व सुरक्षित रह सकेगा ? क्या उनका जीवन-यापन ठीक तरह से हो सकेगा ? क्या उनके मन मे दूसरो के प्रति शुभ या निःस्वार्थ भावनाएँ आ सकेगी ? क्या वे लोग स्वय सुखी हो सकेगे, या दूसरो को भी सुखी बना सकेगे ? इन सब प्रश्नो का स्पष्ट उत्तर नकार मे है। [illegible] धर्म

अपने कब्जे मे नही करता, अधिक सग्रह नही करता और वैवाहिक मर्यादा होने के कारण दूसरे की स्त्री को माता-बहिन की पवित्र दृष्टि से देखता। इस प्रकार उनके सामाजिक जीवन मे सुख का सागर ठाठे मारता हुआ नजर आता। यह है 'धर्मो रक्षति रक्षित' का रहस्य !

इसलिए धर्म के रहस्य को परखिए, उसकी उपयोगिता को अन्तस्तल मे उतारिए, उसके व्यावहारिक पहलू को आत्मसात् कीजिये। केवल 'धर्म-धर्म' चिल्लाने से धर्म जीवन मे नही आ जाता है। धर्म आचरण की वस्तु है, वह विज्ञापन की चीज नही, वह आडम्बर और थोथे प्रदर्शन की वस्तु नही है।

आजकल जगत् मे एक नया नारा लगाना शुरू हो गया है, धर्मो के खिलाफ ! एक वर्ग धर्म को, धर्म के नाम को उडा ही देना चाहता है। वह कहता है इन धर्मो ने सारे विश्व को रसातल मे पहुँचा दिया है, धर्मो ने मानव-जाति को बुरी तरह लडाया, भिडाया है, मल्लयुद्ध कराया है, इसलिए इन धर्मो की तो जड ही उखाड डालनी चाहिए। वास्तव मे, ऐसा कहने वाले लोगो की बात मे भी कुछ तथ्य है, इससे इन्कार नही किया जा सकता। परन्तु ऐसे लोग धर्म के असली स्वरूप को न पहचान कर, धर्म का मर्म न समझकर धर्म-भ्रम को, धर्म-पथो को, सम्प्रदायो को, धर्म के नाम से चलने वाले निष्प्राण क्रियाकाण्डो को ही धर्म समझ बैठे है और उनमे पारस्परिक सघर्ष, कलह और द्वेष देखकर ही वे चट कह बैठते है गोली मारो, इस धर्म को।

धर्म निष्प्राण क्रियाओ मे नही है, धर्म बिना सोचे-समझे भूखे-नगे रहने मे नही है, धर्म किसी प्रकार की वेशभूषा मे नही है, धर्म अमुक प्रकार के तिलक-छापो मे नही है, धर्म चौके-चूल्हे मे नही है, धर्म-लम्बे चौडे उपदेश मे भी नही है, धर्म स्वर्ग के नाम पर हुडी लिख देने या स्वर्ग के सब्जबाग दिखाने मे नही है, किसी के पीछे जीवित ही अग्नि मे जल मरने मे, आंसू बहाने मे, धर्म नही है, धर्म बिना समझे शास्त्रो को घोटने मे नही है, धर्म बेईमानी से, छल-प्रपञ्च से कमाकर दान देने में नही है, धर्म मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर, स्थानक, उपाश्रय, मठ, गुरुद्वारा या रामद्वारा आदि स्थानो मे ही नही रखा हुआ है। धर्म हृदय मे, जीवन मे और सही सोचने व सही कार्य करने मे है। धर्म अहिंसा मे है, सत्याचरण में है, प्रेम मे है, न्याय में है, सदाचार और सद्-विचार मे है। धर्म अपने को जानने, पहचानने और समझने मे है। धर्म सबके हित मे अपना हित समझने मे है। धर्म जिम्मेवारी और कर्त्तव्य-पालन में है। धर्म अमीरी-गरीबी, जात-पात, साम्प्रदायिकता और प्रान्तीयता आदि भेदो को मिटाने मे है, धर्म दीन-दुखियो को गले लगाने मे है। धर्म ईमानदारी से व्यवहार करने मे है, धर्म कम से कम वस्तुओ से निर्वाह करने मे है धर्म सत्य-अहिंसा पर अटल रहने मे है, धर्म जैसा कहना वैसा करके दिखाने मे है। धर्म रूढियो, अन्धविश्वासो, मिथ्याधारणाओ, कुपरम्पराओ और गलत मान्यताओ को मिटाने में है, धर्म विषम से विषम परिस्थिति में

भी नैतिकता के पालन करने में है, धर्म मन की निर्मलता, पवित्रता और स्वतत्रता में है, धर्म समाज में कम से कम लेने और अधिक से अधिक देने में है। एक वाक्य में कहूँ तो धर्म—"अहिंसा सजमो तवो" है। धर्म वह विचार, वचन या आचरण है, जिससे विश्वसुखसवर्धन को क्षति न पहुँचे।

उपर्युक्त बातो को कोई भी व्यक्ति, समाज, राष्ट्र या वर्ग बुरा नही बताएगा, क्योकि ये बाते तो जीवन की मूलभूत बाते है, इनके बिना जीवन मे एक क्षण भी नही चल सकता। हाँ, यह बात जरूर है कि आजकल के अलग-अलग ट्रेडमार्क लगे हुए धर्म विलक्षण ही है और इनकी पुरानी और नई करतूते देखकर घृणा पैदा होना स्वाभाविक है। इन्ही धर्मों के नाम पर, पथो व सम्प्रदायो के नाम पर लोगो को जिंदा जलाया गया है, इन्ही धर्मों के नाम पर छल, द्वेष, कलह, पाखड, बेईमानी, अन्याय, अत्याचार और व्यभिचार तक चलाया गया है, धर्म के नाम पर हजारो-लाखो आदमियो को स्वर्ग की हुडियाँ लिखकर ठगा गया है, धर्म के नाम पर आपस मे खून की होली खेली गई है, धर्म के नाम पर भोली-भाली अबलाओ का जीवन नरकमय बनाया गया है। ऐसे धर्मों से सचमुच नफरत हो सकती है। परन्तु हमे एक बात स्पष्ट समझ लेनी चाहिए कि जैन, बौद्ध, वैदिक, हिन्दू, इस्लाम, ईसाई आदि विशेषण लगे हुए धर्म, अहिंसा, सत्य आदि की तरह धर्म नही है ये तो एक प्रकार के समाज है, सघ है, सम्प्रदाय है या तीर्थ है, नेशन है, साम्प्रदायिक ट्रेडमार्क है, धर्म की पोशाक है, क्योकि भगवान महावीर ने स्पष्ट शब्दो मे अहिंसा, सयम और तप को ही धर्म कहा है।

इसलिए हमे तो धर्म मे अहिंसा-सत्यादि सद्गुण, सर्वहितकारी बाते, सर्व-कल्याणकर चीजे समझना चाहिए और उन्ही का अनुसरण करना चाहिए। जन्म से आपको कोई भी सम्प्रदाय, पथ या अमुक विशेषण वाला धर्म परम्परा मे मिला हो, किन्तु उपर्युक्त अहिंसा-सत्यादि रूप धर्म का पालन करने मे कोई हानि नही है, कोई बाधा नही है। सत्य सत्य ही रहता है, उस पर यह हिन्दू का सत्य, यह जैन का सत्य या यह मुसलमान का सत्य ऐसे ट्रेडमार्क नही लगते। क्या अपने बेटे के प्रति मुसलमान माता के प्रेम और हिन्दू माता के प्रेम मे कोई अन्तर रहता है या उस पर कोई छाप लगी रहती है कि यह प्रेम तो घटिया है और यह प्रेम बढ़िया है?

इसी प्रकार आप इस तरह धर्म का, सद्गुणो का, स्वभावो का, स्वकर्तव्यो का पालन कीजिए, पर छोड़िए मत।

कल्याणकर है, सुखाकर है। इसीलिए जैनशास्त्र मे धर्म के फल का वर्णन करते हुए लिखा है—

'इहलोय-परलोय हियाए, सुहाए, निसेसाए, खम्माए, अणुगामियत्ताए भवइ।'

अर्थात्—धर्म मानव-जीवन के इस लोक और परलोक के हित के लिए, सुख के लिए, कल्याण के लिए, जीवन को समर्थ बनाने के लिए है और यहाँ पालन किया जाने वाला धर्म परलोक मे भी अनुगामी होता है।

जैसे प्रकृतिदत्त पदार्थों—सूर्य चन्द्रमा, जल, पृथ्वी आदि का सभी उपयोग कर सकते है, वैसे ही धर्म का सभी उपयोग कर सकते है। वह किसी व्यक्ति विशेष, सम्प्रदाय विशेष, समाज विशेष, पथ विशेष या राष्ट्र विशेष के ठेके मे बन्द नही है। धर्म का द्वार सबके लिए खुला है। चाहे वह किसी भी देश, वेष, जाति, परम्परा या प्रान्त का व्यक्ति क्यो न हो।

धर्म का पालन या धर्म का जीवन मे व्यवहार सब समय और सब जगह किया जा सकता है और किया जाना चाहिए। कई लोगो ने धर्म को उपाश्रय, मन्दिर, स्थानक, गिरजाघर, मस्जिद, गुरुद्वारा या रामद्वारा आदि स्थानो मे ही बन्द कर रखा है। उनसे बाहर की हवा धर्म को वे लगने नही देना चाहते। परन्तु यह सबसे बडी भूल है कि उपाश्रय आदि मे रहे, वहाँ तक धर्म जिन्दा रहे और उपाश्रयादि से निकलते ही छूमन्तर हो जाय, दूकान मे धर्म न रहे, ऑफिस मे धर्म छिप जाय, कार्यालय मे धर्म दुबक कर बैठ जाय, घर मे धर्म ताक मे रख दिया जाय, जीवन के किसी भी व्यवहार मे धर्म को काठ मार जाय, जीवन के राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति आदि क्षेत्रो में धर्म पलायन कर जाय, ऐसा हो नहीं सकता। यह धर्म का मजाक है। धर्म तो श्वासोच्छ्वास की तरह हर समय साथ रहना चाहिए और उसका हर समय पालन होना चाहिए, आचरण होना चाहिए। कोई आदमी इस बात को सहन नही कर सकेगा कि कांटे लगते हो, वहाँ तो जूते पैर मे से उतार ले और जहाँ कांटे नही लगते हो वहाँ जूते पहन ले। इसी प्रकार जहाँ जीवन मे बेईमानी, छल, लोभ, हिंसा आदि के कटक लगने का अदेशा हो वहाँ धर्म रूपी पादत्राण उतार लेना और उपाश्रयादि जैसे स्थानो मे जहा कि काटे लगने का अदेशा न हो वहाँ वह पादत्राण पहन लेना भी क्या धर्म की मजाक नही है, बहुरूपियापन नही है? धर्म का तो हर क्षण और हर जगह पालन होगा तभी वह जीवन को हरा-भरा बना सकेगा, दानवी वृत्तियो को हटाकर मानवी वृत्तिया बढा सकेगा। कई लोग यह सोचा करते है और अक्सर अपने कुटुम्ब के युवको और बच्चो से कहा भी करते है—"भाई अभी तेरा धर्म करने का समय नही है अभी तो जवानी के दिन है, खाओ, पीओ, मौज उडाओ, बुढापे मे धर्म करना। बच्चो से भी कहा जाता है—'अभी तुम्हारे खेलने का समय है, पढने-लिखने का समय है धर्म तो पाकी उम्र मे किया जाता है।' ऐसे लोगो की मूर्खता पर हँसी

वे कहते हैं कि अपना-अपना कर्त्तव्य-पालन करना धर्म है, अपना फर्ज अदा करना धर्म है, अपनी ड्यूटी बजाना धर्म है। जैसे क्षत्रियों का कर्त्तव्य रक्षा करना, वैश्यों का वाणिज्य, ब्राह्मणों का अध्ययन-अध्यापन, शूद्रों का सेवा करना कर्त्तव्य है। वकीलों का वकालत करना, डॉक्टरों का चिकित्सा करना, न्यायाधीशों का न्याय करना और मन्त्रियों का राज्य चलाना कर्त्तव्य है। परन्तु धर्म का यह अर्थ बहुत ही संकुचित है। कर्त्तव्य शब्द से धर्म शब्द काफी विशाल है। कर्त्तव्य शब्द में त्याग सूचित नहीं होता। वहाँ जितना देना है, उतना लेना है। डॉक्टर ने दवा और सलाह दी, उतने पैसे मरीज से या सरकार से ले लिये। यहाँ तक तो बराबर का सौदा है, बशर्ते कि वह डाक्टर ईमानदारीपूर्वक उतनी ही दवा और सलाह रोगी को दे देता हो, जितना उसे सरकार से या रोगी से मिलता है। यह नीति कहलाई, धर्म नहीं कहलाया। धर्म में तो कम से कम लेकर या बिलकुल न लेकर बदले में निःस्वार्थ भाव से ज्यादा से ज्यादा देना होता है, और कर्त्तव्य तो बदल भी सकता है। आज एक आदमी वकील है, कल अध्यापक का कर्त्तव्य ले सकता है। परन्तु धर्म तो हर जगह अपना स्थान रखता है, वह हर क्षेत्र में त्याग माँगता है, आचरण माँगता है।

भारतवर्ष के पूर्व ऋषियों ने चार पुरुषार्थ बताये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चारों पुरुषार्थों में मोक्ष तो अन्तिम फल है। अर्थ और काम पुरुषार्थों में भी धर्म को साथ रखने और मद्देनजर रखने की हिदायत हमारे पूर्व पुरुषों ने दी है। उन्होंने जगत् को सन्देश दिया कि धर्म से ही, धर्माचरण से ही अर्थ और काम पुरुषार्थ का सेवन भली-भाँति किया जा सकता है। धर्म को छोड़कर एकान्त अर्थ और काम का सेवन मानव-जीवन के लिए एक खतरा है। दुःख मुक्ति के लिए—मोक्ष के लिए धर्म की शरण ही एकमात्र श्रेयस्कर है। उसके बिना संसार नरक की ओर ही गति करेगा।

एक महल में जैनसंस्कृति का जगमगाता हुआ महापुरुष बैठा था। नीचे शृंगारगृह में ९९ करोड़ स्वर्णमुद्राओं का ढेर लगा हुआ था। आठ रमणियाँ उसके सामने हाथ जोड़े खड़ी थीं अकस्मात् ५०० चोर आए। उनका लक्ष्य केवल अर्थ प्राप्ति था। [illegible] होकर वे अर्थराशि की चमचमाहट के लिए ललचा रहे थे। उनके पास दो विद्याएँ भी थीं, जिनसे वे ताले तोड़ डालते थे और सबको निद्रादेवी की गोद में सुला देते थे। इधर आठों ललनाओं का लक्ष्य काम था। वे चाहती थीं कि धर्म के रंग में रंगा हुआ यह महान् आत्मा हमारे वशवर्ती हो जाए और सांसारिक सुखों का उपभोग करे। एक ओर अर्थ का जोर था, दूसरी ओर काम का जोर। उस महान् [illegible] आत्मा को न तो अर्थ का मोह डिगा सका और न काम का मोह ही उन्हें [illegible] विजय धर्म की होती है। व्यास के शब्दों में—'यतो धर्मस्ततो जय' [illegible]

आप भी दुःखमुक्ति चाहते हैं, विश्व को सुखमय देखना चाहते हैं, तो धर्म को रग-रग में रमाइये। "अट्ठि मिज पेमाणु रागरत्ते" हड्डियों और नसों में धर्म का प्राणवायु भरिए। धर्म आपके किसी भी काम को रोकेगा नहीं। वह आपका खाना-पीना बन्द नहीं करेगा। वह तो यही कहता है कि जीवन की अन्य कलाओं में धर्म कला को मुख्य रखो, आगे रखो, उसकी उपेक्षा मत करो। **'सव्वाकला धम्मकला जिणाइ'** सब कलाओं में धर्मकला ही उत्कृष्ट है। अतः सभी कार्यकलापों में, अर्थ, काम और पुरुषार्थ के समय भी धर्म को नजर-अन्दाज न कीजिए, ओझल न कीजिए, उसको आँखों के तारे की तरह सामने रखिए।

परन्तु अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि आज धर्म बेचारा अर्थ और काम के बोझ से दब गया है। उसकी आवाज फीकी पड़ गई है। उसे कोई किसी भाव पूछता तक नहीं। जहाँ देखो, वहाँ अर्थ और काम का बोल-बाला है, पैसा, साधन और ऐश-आराम की सर्वत्र तूती बोल रही है, धर्म बेचारा दुम दबाए बैठा है। महाभारतकार महाकवि वेदव्यास ने भी उस जमाने में अर्थ और काम का बाजार गर्म देखकर अपने जीवन में निराश होकर कहा था—

"ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष, नैव कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च, स धर्मः किं न सेव्यताम्॥"

अर्थात्—"लो, मैं भुजा उठा कर चिल्ला रहा हूँ। मेरी कोई नहीं सुनता। मैं कहता हूँ धर्म ही प्रधान वस्तु है। उसी से अर्थ और काम की प्राप्ति होती है। उस धर्म का सेवन क्यों नहीं कर रहे हो?"

आज मानव-जीवन के रंगमंच पर, जीवन के सभी मैदानों में अर्थ और काम प्रधान सिंहासन पाये हुए हैं। धर्म इनका दास बना हुआ है। जो धर्म जगत् की सुन्दर व्यवस्था करने आया था, जो जगत् का धारण-पोषण करने और शुद्धि-वृद्धि करने आया था, आज उसकी पूछ सर्वत्र घट रही है। सभाओं में, सोसाइटियों में, उद्घाटनों में, भाषणों में, संस्थाओं में, उपाश्रयों में, मन्दिरों में, स्थानकों व धर्मस्थानों में सभी जगह प्रायः थैलीवालों को उच्चासन या अग्रासन मिलता है, धर्मात्मा—सच्चे-धर्म का आचरण करने वालों को नहीं। यह एक काफी शोचनीय वस्तु है। हमें इस स्थिति पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए और समाज में धर्म का आसन छीनने वाली इन कुप्रथाओं को धक्का देकर निकालना चाहिए तभी धर्म की प्रतिष्ठा सुरक्षित रह सकती है, तभी त्याग और सदाचार को उच्चासन मिल सकता है। हाँ, तो, मैं धर्म पर काफी बोल गया हूँ। आप लोग धर्म का रहस्य जानिए, उसे परखिए, अपने जीवन को धर्म से माँजिए और उन्नत बनाइए, यही आशा मैं आप से कर सकता हूँ।

धर्म की आवश्यकता

आर्यावर्त धर्म का आदिस्रोत रहा है। यहाँ धर्म की स्रोतस्विनी अतीत काल मे जन-जन के मन मे प्रवाहित होती रही है। जिसने जीवन मे समरसता, सरसता और मधुरता का सञ्चार किया, मन और मस्तिष्क का परिमार्जन किया। जिसके द्वारा बहिर्मुखता को छोड़कर वासनाओ के पाश से हटकर मानव शुद्ध चिद्रूप आत्म-स्वरूप की ओर अग्रसर हुआ। जिसने विचारशोधन, वृत्तिशोधन और वर्तनशोधन किया, जो जीवन-विटप का सुन्दर पुष्प है, जिसके सौन्दर्य और सौरभ मे ही राष्ट्रीय जन-जीवन का सौन्दर्य और माधुर्य अन्तर्निहित है। जो आत्मा का आध्यात्मिक संगीत है, जिसकी सुरीली स्वर लहरी हिमालय से कन्याकुमारी तक ही नही, अटक से कटक तक ही नही, विश्व के सभी राष्ट्रो मे, सभी महाद्वीपो मे गूंजती रही। धर्म आत्मा को महात्मा और परमात्मा तक ले जाने वाला एक चिर पथप्रदर्शक है। जो मानव-जीवन के विकास और अभ्युदय के लिए सतत प्रेरक रहा, जिस धर्म के बिना मानव-समाज की कल्पना कबन्ध मात्र है, धर्म ही जिस समाज का मस्तिष्क है, जिसका जीवन मे श्वास-प्रश्वास की तरह महत्त्वपूर्ण स्थान है। जो मानव-समाज की चिकित्सा, व्यवस्था और उन्नति के लिए आशीर्वाद बनकर संसार मे आया। जो मानव-समाज, राष्ट्र और सृष्टि तक की तमाम उलझनो को, गुत्थियो को सुलझाता रहा है, क्या उस धर्म की आज जन-जीवन के लिए कोई आवश्यकता नही है? यह एक ज्वलन्त हुआ प्रश्न हमारे सामने है, जिसका उत्तर हमे सोचना है।

धर्म के पुराने इतिहास को पढ़कर आज की अधिकांश बुद्धिवादी जनता धर्म को बुरी तरह कोसने लगती है और घृणापूर्वक कहने लगती है—जिस धर्म ने हमारे राष्ट्र का, समाज का, सत्यानाश कराया, जिस धर्म ने भाई-भाई मे आपस मे खून की होली खेलाई, जिस धर्म ने लाखो आदमियो को मौत के घाट उतार दिया, जिस [illegible] महामानवो को पैरो तले रौंद डाला, जिस धर्म ने असंख्य [illegible] को विकृत किया, जिस धर्म ने जगत् मे अन्धश्रद्धा, [illegible] और कट्टरता का शिकार मानव-जाति को बनाया, जिस धर्म ने [illegible], जिस धर्म ने परिग्रहवाद और भोगवाद

को धर्म के नाम से बढ़ने में सहायता दी, जिस धर्म ने बेईमानी और अन्याय-अत्याचार से कमाए हुए धन पर पुण्यवानी की, धर्मात्मापन की मुहर-छाप लगाई, जिस धर्म के नाम से अन्याय, अत्याचार, छल-छिद्र, पाखण्ड-पूजा, व्यभिचारवृत्ति, दासवृत्ति आदि बुराइयाँ पनपीं, जिस धर्म ने मानव की मानवता को लूट-खसोट कर दानवता के पथ पर ला खड़ा किया, जिस धर्म ने पण्डों, पोपों, ठगों, कठमुल्लों आदि की दूकानदारी बढ़ाने में सहायता दी, जिस धर्म ने केवल ईश्वर की चापलूसी करने से पाप माफी का फतवा दे दिया, क्या ऐसे धर्म को समाज में रहने दिया जाय? क्या ऐसे धर्म को विश्व में स्थान दिया जाय? नहीं, नहीं ऐसे धर्म को तो शीघ्र से शीघ्र खतम करना चाहिए।' ये और इसी प्रकार के अन्य कई सवाल उठा कर कई लोग धर्म की जड़ उखाड़ने को तुले हुए हैं। उन्हें यह पता नहीं कि धर्म दुनिया में किसलिए आए हैं? क्या धर्म दुनिया में बुराइयाँ बढ़ाने के लिए आए थे? क्या धर्म दुनिया की बरबादी करने के लिए अवतरित हुए थे? नासमझी के कारण, धर्म के नाम से कुछ स्वार्थी लोगों की चालबाजी के कारण धर्म इतना बदनाम हुआ है। धर्म अपने आप में कल्याणकारक है, मंगलमय है, जगत् में शान्ति का सन्देश फैलाने वाला है। धर्म के नाम से अगर कोई मनचला समाज में प्रलयकारी दृश्य उपस्थित करता है, तो उसमें धर्म का क्या दोष? किसी आप्तपुरुष ने किन्हीं भोले-भाले गरीब आदमियों को एक ऐसा रत्न दे दिया, जिससे वे सुख से जीवनयापन कर सकें, लेकिन अगर वे अपनी मूर्खतावश उस रत्न से आपस में सिर फोड़ने लगते हैं, एक-दूसरे की कपाल-क्रिया करने लगते हैं, तो इसमें उस आप्तपुरुष का क्या दोष? यही बात धर्म के सम्बन्ध में है। अगर किसी महापुरुष ने जगत् की जनता को धर्मरत्न दे दिया है तो उससे जगत् कल्याण का प्रकाश लेना चाहिए था, लेकिन वे अगर आपस में ही सिर-फुटौवल करने लगते हैं, तू-तू, मैं-मैं करने लगते हैं, तो इसमें न तो उस महापुरुष का दोष है और न धर्म का ही दोष है? यह दोष जनता की नासमझी का है, जो धर्म का सदुपयोग नहीं कर सकते।

धर्मों ने जहाँ मनुष्यों ने उदारता मित्रता का पाठ पढ़ा है, वहाँ अपनी नासमझी से अकारण शत्रुता का भी पाठ कम नहीं पढ़ा है। धर्मों के आधार पर दुनिया में जहाँ स्वर्गों की सृष्टि हुई है, वहाँ अपनी नादानी से नरकों की सृष्टि भी की है। धर्म से जनता को लाभ उठाना चाहिए था, वहाँ जनता ने अगर अपनी कमबख्ती से मस्तिष्क का दिवाला निकाल दिया या खूनखराबी मचाई तो धर्म इसका जिम्मेवार कैसे हो सकता है? किसी भी वस्तु का मूर्ख जनता अगर अपनी मूर्खता के कारण दुरुपयोग करती है जबकि उसके कारण जनता अपना कल्याण कर सकती है, तो इसी से उस वस्तु को सदा के लिए मिटा देना कहाँ की बुद्धिमानी है? अधिकांश बीमारियाँ पेट की खराबी से होती हैं और बीमारियों का असली कारण मिथ्या आहार-विहार है, आहार से बीमारियाँ होती हैं, या पेट की खराबी से बीमारियाँ होती हैं तो क्या आहार को सदा के लिए बन्द करना चाहिए? या पेट को ही नष्ट कर देना चाहिए?

यही बात धर्मों के बारे मे समझिए। धर्मों के नाम मे बुराइयाँ पनपती है तो क्या धर्मों को ही भस्मसात् कर देना चाहिए ? धर्मों को मिटा देने से बुराइयाँ मिट नही जायेंगी। जिस प्रकार बीमारी से बचने के लिए आहार-विहार मे सुधार किया जाता है, उसी प्रकार धर्मों के नाम पर होने वाले झगडो, अन्यायो, अत्याचारो, जुल्मो, बुराइयो आदि को दूर करने के लिए धर्मों मे अमुक संशोधन-परिवर्द्धन किया जा सकता है, धर्मों का सर्वथा विनाश कथमपि उचित नही कहा जा सकता।

मुझे इस विषय मे एक रोचक उदाहरण याद आ रहा है—

किसी नगर मे एक सेठ रहते थे। उनके सात पुत्र थे। वे सातो मन्दबुद्धि थे। एक बार उनके पिताजी असाध्य-रोग मे पीडित हो गए। पिताजी रोगशय्या पर पडे थे। उनके पेट मे भयकर पीडा हो रही थी। पुत्रो ने विचार किया पिताजी के पेट की पीडा का कुछ उपचार करना चाहिए। पहला पुत्र बोला—"नाई को बुलाकर मालिश करवानी चाहिए ताकि पेट का दर्द मिट जाए।" दूसरा पुत्र कहने लगा—"अजी, विरेचन देने से तुरन्त पेट का विकार शान्त हो जायगा। पेट-दर्द के लिए विरेचन अचूक दवा है।" तीसरे ने उस बात को काटते हुए हिंगाष्टक चूर्ण पेट-दर्द के लिए रामबाण बताया। चौथे ने कहा—"यो ही अपनी अक्ल नही दौडानी चाहिए, किसी सुयोग्य वैद्य को बुलाकर पिताजी को दिखा देना चाहिए, तब कोई इलाज शुरू करना चाहिए।" पांचवे ने कहा—"भाई, अगर वैद्यो की दवा से रोग मिट जाते तो दुनियां मे डाक्टरो का आज इतना बोलबाला क्यो होता ? इसलिए किसी होशियार डाक्टर को बुलाना ठीक रहेगा।" छठे ने उसकी बात को मजाक मे उडाते हुए कहा—"वाह भाई वाह ! डाक्टर तो छोटे से रोग को पैसा लूटने के लिए बहुत बडा बना दिया करते है। मुझे तो इन पर रत्ती भर भी विश्वास नही है। मेरी सलाह से किसी होमियोपैथिक चिकित्सक को बुलाना चाहिए। होमियोपैथिक इलाज रोग की जड मिटा देता है।" इस प्रकार उन छहो भाइयो मे आपस मे गहरा विवाद छिड गया तथा सभी अपनी-अपनी बात पर अडे रहे और आपस में वाद-विवाद बढते-बढते गाली गलौज और हाथापाई तक की नौबत आ पहुँची। सातवां लडका जरा बुद्धिमान ज्यादा था, वह एकदम उठा और भीतर से एक तलवार उठा लाया। उसने तलवार को म्यान से निकाला और सब को दिखाते हुए कहा—"भाइयो ! इस सारे झगडे की जड पिताजी है। ये अगर जीवित रहे तो फिर कभी पेट-दर्द उठ खडा होगा और फिर हमारी सिर-फुटौवल शुरू हो जायगी, अत पिताजी को ही विदा कर देना चाहिए, जिससे 'न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी' जब पिताजी ही न रहेंगे तो झगडे की जड ही मिट जायगी।'

यही बात आजकल के बुद्धिवादी कहे जाने वाले लोग धर्म के विषय में करते हैं। जिस धर्म ने पिता के समान मानव-जाति का धारण-पोषण किया, रक्षण किया और वृत्तिशोधन, विचारशोधन, वर्त्तनशोधन किया, जो हमारा उपकारी बन कर आया, अपनी मूर्खता के कारण हम उस धर्म की हत्या करने को उतारू हो रहे हैं, धर्म विषयक विवाद और विरोध मचा कर स्वयं अपने हाथों उसकी जान के ग्राहक बन रहे हैं। वे समस्या की जड़ पर नहीं पहुँच कर ऊपर के पत्तों को खींच कर समस्या हल करना चाहते हैं।

अगर दीवार की ओट में कोई चोर छिप जाता है तो उस दीवार को नहीं तोड़ा जाता, चोर को ढूंढा जाता है। इसी प्रकार धर्म की ओट में कई बुराइयाँ पनप रही हों तो उन बुराइयों को ढूंढ कर दूर करना चाहिए, न कि धर्म की जान लेने पर उतारू होना चाहिए। नाक पर मक्खी बैठ गई है तो समझदार आदमी नाक को नहीं काट डालता, अपितु मक्खी को उड़ा देता है, इसी तरह धर्म पर अधर्म का, पाप का, अन्धविश्वास का, पाखण्ड का और कुरूढियों का मैल जम गया है तो समझदारी का तकाजा यही है कि उस मैल को दूर हटाया जाय, साफ किया जाय, न कि धर्म को ही साफ करने का प्रयत्न किया जाय।

आज संसार के विविध धर्मों में जो आपसी वैमनस्य है, ईर्ष्या है, द्वेष है, उसका कारण ढूंढा जाय तो यही मालूम होगा कि विविध धर्मों ने विभिन्न देशों, कालों, परिस्थितियों और अवस्थाओं को देखकर अपना सन्देश मानव-जाति को दिया है। विभिन्न धर्मों के ध्येय में कोई अन्तर न दिखाई देगा, अन्तर है तो ऊपरी विधि-विधानों में, आचरण की प्रक्रियाओं में, धर्मशास्त्रों की भाषाओं में, शैली में और धर्मों के क्रियाकाण्डों में, सो तो विभिन्न देश, काल और परिस्थितियों के कारण होना स्वाभाविक है। तीर्थंकरों के उपदेशों, सन्देशों में भी विभिन्न देश, काल और परिस्थिति के अनुसार कितना अन्तर रहता है? इसी चौबीसी के चौबीस तीर्थंकरों के विधि-विधानों, धर्म क्रियाओं, आचरण की प्रक्रियाओं में अन्तर है। यह अन्तर होने पर भी तीर्थंकरों के मूल ध्येय में कोई अन्तर नहीं है। इसी प्रकार धर्म-संस्थापकों ने अपने-अपने युग में, अपने समय की जनता की परिस्थिति और क्षेत्र देखकर किसी अमुक बात पर ज्यादा जोर दिया है, किसी पर कम। इससे यही नहीं समझ लेना चाहिए कि उनका धर्म-स्थापना का उद्देश्य जनता का कल्याण करना था, जनता को गुमराह करना था। अगर हम नादान लोगों की धर्म के नाम से स्वार्थक्रीड़ा देखकर धर्म को अर्धचन्द्र देने जाते हैं, तो हम भी उसी कोटि के समझे जायेंगे, जो समस्या की जड़ को नहीं छूते, साँप को नहीं पकड़ते, साँप के बिल पर ही लाठियाँ बरसाते हैं।

जो लोग ऐसी धारणा रखते हैं कि विविध धर्मों को भी सर्वथा नष्ट कर दें और उनके स्थान पर किन्हीं ऐसी विदेशी चीजों को न आने दें, वे अगर इसमें सफल हो सकें तो सचमुच श्रद्धा के पात्र हैं। किन्तु उनकी यह बात आकर्षक होते हुए भी

वैशेषिकदर्शन कहता है—इच्छा और द्वेष ही धर्म, अधर्म और सुख-दुःख के कारण हैं। तत्त्वज्ञानी इच्छा और द्वेष से रहित होता है, एतदर्थ उसे सुख-दुःख नहीं होता। वह अनागत कर्मों का निरोध करता है और संचित कर्मों को ज्ञानाग्नि से विनष्ट कर मोक्ष प्राप्त करता है। इसलिए तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का मुख्य कारण है।

बौद्धदर्शन कहता है—अविद्या से बन्ध होता है और विद्या से मोक्ष होता है। अविद्या से भवचक्र बढ़ता है, और अविद्या का विनाश करने से और संस्कारों का क्रमशः क्षय करने से ही मोक्ष या निर्वाण मिलता है।

इस प्रकार न्याय, सांख्य, वेदान्त, वैशेषिक, बौद्ध आदि दर्शन सिर्फ ज्ञान से ही मोक्ष स्वीकार करते हैं, क्रिया से नहीं। जबकि मीमांसक आदि कुछ दर्शन केवल क्रियाकाण्ड, वेदोक्त विधि-विधान को ही महत्त्व देते हैं। वे कहते हैं ज्ञान से मोक्ष नहीं मिलता, मोक्ष मिलता है आचार से, जप से, तप से, क्रियाकाण्ड से। इसलिए क्रियाकाण्ड व वेदविहित कर्म खूब करना चाहिए।

आप जानते हैं कि मिश्री मीठी होती है किन्तु जब तक उसे मुँह में न रखें तब तक उसके मिठास का, माधुर्य का आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। यदि किसी मनुष्य को यह ज्ञान नहीं है कि मिश्री की डली में मिठास होता है, किन्तु वह उस डली को मुँह में रखता है तो उस समय उसे स्वतः ज्ञान हो जाता है। बिना ज्ञान के भी मिश्री उसे उतनी ही मीठी लगती है, जितनी कि एक मिश्री के विशेषज्ञ को। यही बात क्रिया के सम्बन्ध में है। यदि हम उसके सम्बन्ध में विशेषज्ञ नहीं हैं, मामूली सा जानते हैं, फिर भी उसका आचरण करते हैं तो धीरे-धीरे उसका स्वतः विशेष ज्ञान होने लगता है और जीवन में पवित्रता व निर्मलता आने लगती है। किन्तु अगर किसी क्रिया के सम्बन्ध में जान कर भी, विशेष ज्ञान होने पर भी आचरण नहीं करते हैं तो जीवन में पवित्रता नहीं आ सकती। इसलिए जानना उतना मुख्य नहीं, जितना कि आचरण करना है। इसलिए स्मृतिकार ने आचरण को महत्त्व देते हुए कहा है—

"आचारः प्रथमो धर्मः, आचारः परमं तपः।
आचारः परमं ज्ञानमाचारात् किं न सिद्ध्यति?"

अर्थात्—"आचार ही परम धर्म है, आचार ही परम तप है, आचार ही परम ज्ञान है [illegible] मोक्ष है, आचार से क्या नहीं सिद्ध होता? यानी आचार से मानव-जीवन में सभी कुछ सफलताएँ मिल सकती हैं।"

मैं [illegible] कह रहा था कि जितने ही दर्शन ज्ञान को महत्त्व देते [illegible] तो कितने ही दर्शन क्रिया को महत्त्व देते हैं, आचार पर [illegible]। परन्तु जैनदर्शन दोनों का समन्वय और सन्तुलन करता है। वह न केवल [illegible] और [illegible] को। जैनदर्शन का स्पष्ट आघोष है [illegible] क्रिया भारी है, निष्प्राण है, मृत है। विचाररहित आचार

आचार भव-भ्रमण का कारण बन सकता है। इसके विपरीत क्रिया के अभाव में, आचार से रहित कोरा ज्ञान या विचार लगड़ा है, गतिहीन है, आध्यात्मिक प्रगति में रुकावट का कारण है। जब तक ज्ञान और क्रिया, विचार और आचार, ये दोनों पृथक्-पृथक् रहते हैं, तब तक अपूर्ण हैं। इन दोनों का जब समन्वय होता है, तब ये पूर्ण होते हैं। पूर्ण होने के पश्चात् जीवन में चमक-दमक आती है। जीवन को चमकाने के लिए उच्च विचार के साथ उच्च आचार की आवश्यकता है। जहाँ विचार के साथ आचार का समन्वय होता है, वही जीवन ऊपर उठता है, अमरत्व का प्रशस्त सिंहासन प्राप्त करता है।

जैसे अनन्त गगन में ऊँची उड़ान भरने के लिए पक्षी को स्वस्थ और अविकल दोनों पाँखें अपेक्षित होती हैं, वैसे ही साधक को साधना के आकाश में आध्यात्मिक उड़ान भरने के लिए ज्ञान और क्रिया अथवा आचार और विचार की स्वस्थ और अविकल पाँखें आवश्यक हैं, अपरिहार्य हैं। यदि पक्षी की एक पाँख स्वस्थ है और दूसरी पाँख कट गई है, नष्ट हो गई है तो वह अनन्त आकाश में उड़ान नहीं भर सकता, चाहे वह कितना ही प्रयत्न कर ले, सफल नहीं हो सकता। उसे सफलता तभी मिल सकेगी, जब उसकी दोनों पाँखें सबल, स्वस्थ और अविकल होंगी। ठीक इसी तरह साधक-जीवन में भी तभी सफलता मिल सकती है, जब विचार और आचार की दोनों पाँखें मजबूत और अविकल होंगी।

बिजली के दो तार होते हैं, एक नेगेटिव और दूसरा पोजिटिव। जब तक ये दोनों तार पृथक्-पृथक् रहते हैं, तब तक आपका कमरा मंगलमय प्रकाश से प्रकाशित नहीं हो सकता, पंखा आपको हवा नहीं दे सकता, रेडियो पर राग-रागिनी थिरक नहीं सकती, हीटर पानी गरम नहीं कर सकता, चाहे आप कितनी ही बार बटन दबाएँ किन्तु यदि ये दोनों तार मिले हुए होते हैं तो बटन दबाते ही प्रकाश हँसने लगेगा, पंखा नृत्य करने लगेगा, रेडियो श्रुति मधुर स्वर्गीय संगीत की स्वर लहरी सुनाने लगेगा, हीटर पानी को उबाल देगा। इसी प्रकार साधक-जीवन की स्थिति है। यदि उसके जीवन में विचार और आचार के दोनों तार नहीं हैं तो आध्यात्मिक प्रकाश फैल नहीं सकता, उत्क्रान्ति की हवा मिल नहीं सकती, विश्व के आध्यात्मिक संगीत की स्वर लहरी सुनाई नहीं दे सकती, साधना की गर्मी आ नहीं सकती।

वैज्ञानिकों का मानना है कि ऑक्सीजन और हाईड्रोजन दोनों के संयोग से जलीयतत्त्व तैयार होता है। यदि इन दोनों का संयोग न हो तो पानी तैयार नहीं हो सकता और पानी के अभाव में प्राणी की क्या स्थिति हो सकती है उसकी कल्पना आप स्वयं कर सकते हैं। इसी प्रकार विचार और आचार इन दोनों से ही जीवन रस तैयार हो सकता है। इन दोनों के संयोग के अभाव में जीवन में साधना का प्राण नहीं आ सकता, वह जीवन एक तरह से आध्यात्मिक मृत्यु को प्राप्त है।

डॉक्टरों का कहना है—हमारे शरीर में मुख्य दो प्रकार की इन्द्रियाँ हैं—

एक मस्क्यूलर स्ट्रेंग्थ, दूसरी नर्वस् स्ट्रेंग्थ। हिन्दी भाषा मे इन दोनो को शारीरिक शक्ति और स्नायविक शक्ति कह सकते है। जब ये दोनो शक्तियाँ पूर्ण रूप से समान मात्रा मे, सन्तुलित मात्रा मे होती है तभी हमारा शरीर स्वस्थ और मस्त रहता है। जैसे शरीर को स्वस्थ और मस्त रखने के लिए उक्त दोनो शक्तियाँ आपेक्षित है, वैसे आत्मा की स्वस्थता और मस्ती के लिए भी ज्ञान और क्रिया अथवा विचार और आचार इन दोनो शक्तियो की अपेक्षा है। दोनो शक्तियो के समान रूप से विकसित होने पर ही हमारा आत्मा स्वस्थ और मस्त रह सकता है, एक की उपेक्षा करके यदि हम जीवन-निर्माण करना चाहे या उज्ज्वलस्वल व्यक्तित्व का निर्माण करना चाहे तो आकाश कुसुमवत् असम्भव है।

जीवन के इस रहस्य का उद्घाटन करते हुए महाकवि जयशंकर प्रसाद ने कामायनी के रहस्य सर्ग मे ठीक ही कहा है—

'ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यो हो पूरी मन की।
एक दूसरे से मिल न सके, यह विडम्बना है जीवन की॥

आपने देखा होगा, घड़ी मे दो कांटे होते है। एक कांटा ६० मिनट मे आगे सरकता है और दूसरा कांटा प्रति सेकण्ड आगे बढ़ता जाता है और ६० मिनट मे सभी अंकों पर पूरा चक्कर लगा लेता है। इन दोनो कांटो के व्यवस्थित ढंग से चलने पर ही घड़ी ठीक समय बता देती है। दोनो कांटो मे से एक कांटा न हो या ठीक ढंग से गति न करता हो, तो घड़ी ठीक समय नही देगी। फिर घड़ी बीमार हो जायगी और घड़ीसाज के यहाँ उसकी चिकित्सा करानी होगी। ठीक इसी प्रकार हमारे जीवन मे विचार और आचार के दोनो कांटे ठीक ढंग से गति न करे या दोनो मे से एक कांटा खराब हो जाय तो हमारी जीवन की घड़ी आगे बढ़ने से रुक जायगी। हमे आत्मशुद्धि या तपश्चर्या द्वारा जीवन-घड़ी की भी चिकित्सा करनी पड़ेगी।

आज मै देखता हूँ कि हमारे सामाजिक जीवन मे काफी गड़बड़ी चल रही है। एक ओर शिक्षा का ढेर लग रहा है, पुस्तकों के बोझ से युवक दबे जा रहे है, उनके विचार इतने आगे बढ़ गये है कि समाज उनके विचारो को छू नही सकता। दूसरी ओर उनके आचार का हाल यह है कि वे विलासिता, भोगवाद, फैशन और खाने-पीने मे ही जीवन का वास्तविक सुख समझ रहे है। चैन की बंसी बजाने मे ही उन्हे जीवन का [illegible] लगता है। इसी तरह पुराने विचारो के जो बुजुर्ग या प्रौढ लोग है, वे केवल पुराने [illegible] विचारो को पकड़े हुए है, साथ ही आचार के क्षेत्र मे वे काफी पिछड़े है। इसलिए [illegible] समय स्वाभाविक [illegible] की भूलो व अतिचारो का [illegible] देने पर [illegible] मे [illegible] नही, [illegible] मे [illegible] उसका [illegible] नही होगा, जो पहले था। इस कारण [illegible] धीरे-धीरे [illegible] जा रही है। भारतीय जन-जीवन [illegible] आया हुआ है। कुछ लोगो मे

विचाररहित आचार का बोलबाला है तो कुछ लोग आचारहीन विचारों को पकड़े हुए हैं। समाज में दोनों का सामञ्जस्य नहीं दिख रहा है। यही कारण है कि आज हमारे आध्यात्मिक जीवन भी सूखे रेगिस्तान जैसे हो रहे हैं, मरुभूमि की मृगमरीचिका की तरह अध्यात्म का आडम्बर जरूर देखने को मिलेगा, पर पास जाने पर अथवा सम्पर्क में आने पर आध्यात्मिकता नाम की कोई चीज नहीं मिलेगी।

अद्वैतवाद के एक धुरंधर विद्वान् भारत में घूम रहे थे। उन्होंने अद्वैतवाद का अध्ययन तो खूब किया था, पर उन्हें वह पचा नहीं था। एक बार घूमते-घामते वे एक भक्त के यहाँ पहुंच गये। उन दिनों कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। भक्त ने कहा—"नहाने के लिए पानी लाऊँ, महाराज!" वेदान्तीजी हँसे और कहने लगे—"तुम लोग कुछ भी नहीं समझते। जहाँ ज्ञानगंगा बह रही हो, वहाँ नहाने की जरूरत क्या है?" सेवक भी कच्चा नहीं था। उसने भी वेदान्तीजी की अच्छी तरह से परीक्षा करने की ठानी। उसने घर जाकर अपनी पत्नी से बड़े पकौड़े बनाने के लिए कहा। वेदान्तीजी को वह घर पर ले गया। खूब स्वागत सम्मान के साथ उन्हें भोजन कराया। भोजन करने के बाद सेवक ने वेदान्तीजी को एक कमरा आराम करने के लिए बता दिया। वेदान्तीजी सो गये। सेवक ने मौका पाकर दरवाजा बन्द करके बाहर का कुण्डा लगा दिया। अब क्या था? वेदान्तीजी गर्मागर्म पकौड़े बड़े खाये हुए थे, इसलिए जोर की प्यास लगी। आस-पास देखा तो वहाँ सेवक ने पानी बिलकुल नहीं रखा था। अन्त में वेदान्तीजी ने उठकर दरवाजा खटखटाया। जब सेवक नहीं बोला तो उन्होंने जोर से कहा—"अरे भैया, मुझे प्यास लगी है।" सेवक ने कहा—"महाराज, ज्ञानगंगा बह रही है, उसमें से एक लोटा भर कर प्यास बुझा लीजिए!" वेदान्तीजी समझ गये और मन ही मन सोचा सेर को सवासेर मिला तो सही! उन्होंने शरमाते हुए सेवक से माफी माँगी। सेवक ने दरवाजा खोला और पानी लाकर प्यास बुझाई।

हाँ, तो इस तरह केवल ज्ञानवाद बघारने वाले दुनिया में, विशेषतः भारतवर्ष में बहुत हो गये हैं, उनसे समाज में विचारों की भी प्रगति रुक गई है, जड़ता और गैर-जिम्मेदारी ज्यादा बढ़ गई है और आचरण का भी दुष्काल सा पड़ गया है।

आज हमें अपनी दयनीय दशा पर विचार करना होगा कि वास्तव में हम व हमारा देश क्यों पिछड़ गया है? दूसरे देश आध्यात्मिकता का दावा नहीं करते, फिर भी ईमानदारी और नैतिकता में हमारे देश से क्यों आगे बढ़ गये हैं? इसका कारण है कि वहाँ विचार और आचार का मेल है, सामञ्जस्य है, कथनी और करनी का मेल ही जीवन को ऊँचा उठाता है। यहाँ उपस्थित विद्यार्थियों से एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ कि 'राम जाता है' इस वाक्य में कर्ता कौन है और क्रिया कौन है? स्पष्ट है कि 'राम' कर्ता है और 'जाता है' क्रिया है। यदि केवल कर्ता ही हो और क्रिया न हो तो क्या वाक्य बन सकता है? नहीं, वाक्य को पूरा बनाने के लिए कर्ता के साथ क्रिया आवश्यक है। यदि कर्ता है और क्रिया नहीं है अथवा क्रिया है और कर्ता नहीं है तो

वाक्य पूर्ण बन नही सकता और न उन शब्दो का अर्थ ही हो सकता है। जीवन भी एक वाक्य है और यह वाक्य तभी पूर्ण होगा जब हम ज्ञान का क्रियात्मक प्रयोग करेंगे, जानकर उसका आचरण करेंगे।

बडौदा का एक प्रसग मुझे याद आ रहा है। सर सयाजीराव की अध्यक्षता मे एक विराट् सभा का आयोजन हो रहा था। जिसमे अहिसा पर अभिभाषण रखे गये थे। एक मद्रासी अभिभाषक की अभिव्यक्ति इतनी सुन्दर और चित्ताकर्षक थी कि जनता मत्रमुग्ध होकर अहिसा पर किये गये उनके विश्लेपण को सुन रही थी। पडाल तालियो की गडगडाहट मे गूँज रहा था। अभिभाषक महोदय का शरीर जब स्वेद मे तरबतर हो गया तो उन्होने जेब मे एक रुमाल निकालने के लिए हाथ डाला। किन्तु वे बोलने मे तन्मय हो रहे थे, इसलिए जेब से रुमाल निकालने के साथ ही उनके ध्यान न रखने से दो अण्डे बाहर आकर गिरे। जिन्हे देखते ही सभासद आश्चर्यचकित हो गये। कहने लगे—"क्या अहिसा पर इतना गम्भीर विवेचन करने वाला व्यक्ति अण्डे खाता है?" अध्यक्ष स्थान से भाषण देते हुए सर सयाजीराव ने कहा—"ऐसे व्यक्तियो ने ही देश का सत्यानाश किया है, जो कहते है, पर कुछ करते नही। विचार के साथ आचार जिनके जीवन मे नही है, वे कोरे भाषणभट्ट है।"

हाँ तो जानने के साथ ही आचरण करना आवश्यक ही नही, अनिवार्य है। भारतीय सस्कृति के विचारक से एक साधक ने प्रश्न किया—"भगवन्! ज्ञान का फल क्या है?" उत्तर देते हुए उस विचारक ने कहा—**'ज्ञानस्य फलं विरतिः'** ज्ञान का फल बुरे कार्यों से विरत होना है। धर्मदासगणि ने उपदेशमाला मे कहा है—"एक गधा है, जिसकी पीठ पर बावना चन्दन लाद दिया जाय, जिसमे खूब महक है, सौन्दर्य है, शीतलता भी है, परन्तु गधे के लिए तो वह कोई आनन्दप्रद नही है, उसके लिए तो भारभूत ही है। इसी तरह जो साधक ज्ञानी तो है, किन्तु आचरण रहित है, उसके लिए वह ज्ञान भार रूप है, निरुपयोगी है, किसी काम का नही है—

"जहा खरो चन्दणभारवाही, भारस्स भागी न हु चन्दणस्स।
एव खु नाणी चरणेण हीणो, नाणस्स भागी न हु सुग्गइए॥"

—उपदेशमाला

महात्मा बुद्ध ने एक स्थान पर कहा है—"जैसे गाये चराने वाला ग्वाला दूसरो की गाये चराता है, वह दूसरो की गाये गिन सकता है, गायो का मालिक नही बन सकता, दूध नही पी सकता, इसी तरह जो केवल ज्ञान बघारता है, वह उस आचरण का, अनुभव का स्वामी नही है। केवल पोथियाँ गिन सकता है, या दिमाग मे ज्ञान ठूँसकर रख सकता है। इसी प्रकार जैसे चाटु भोजन के सभी पदार्थों मे डाला जाता है किन्तु वह उनका अनुभव नही कर सकता, इसी प्रकार कोरा ज्ञान बघारने वाला अनुभव [illegible] रसास्वादन का आस्वादन नही कर सकता।"

अतः जैसे सूर्य और प्रकाश दोनों साथ-साथ रहते हैं, इसी प्रकार ज्ञान और क्रिया अथवा आचार और विचार साथ-साथ रहेंगे, तभी हमारा जीवन अलौकिक साधना से चमक उठेगा।

बहुत से लोग बातें बहुत बड़ी-बड़ी कर लेंगे, विचारों में आपसे बाजी मार जायेंगे, पर जब आचार में—कार्य में परिणत करने का सवाल आएगा, तब कोई न कोई बहाना ढूँढकर छिटक जायेंगे। यह मनुष्य-जाति का महान् दुर्भाग्य है कि वह विचारों को आचार का रूप देने में बहुत घबराता है। कई लोग तो विचार तक सहिष्णु होते हैं, कोई साधक किसी विचार को जनता के समक्ष प्रकट करता है तो उसकी हाँ में हाँ मिला देंगे, प्रशंसा के पुल भी बाँध देंगे, परन्तु ज्यों ही उसने उन विचारों को असली रूप देना शुरू किया कि वे महाशय विरोधी बन जायेंगे। विचारों से सहमत और कार्य (आचार) से असहमत, विचारों से सन्तुष्ट और कार्य (आचार) से रुष्ट होने वाले महानुभावों की संख्या कम नहीं है। और जब तक समाज में विचार और आचार का यह द्वैविध्य है, तब तक उसकी गाड़ी अवनत दशा के दलदल में फँसी हुई समझनी चाहिए।

इसीलिए विचारों को आचार रूप में परिणत करते समय समाज जो मानसिक निर्बलता बताता है, परिस्थिति को प्रतिकूल बना देता है या ईर्ष्यावश वहीं अटका रहना चाहता है, यह एक भयंकर बीमारी है। हमें विचार को साधन मात्र समझना चाहिए और उसके आचार को समझना चाहिए साध्य। जब तक हम किसी विचार को आचार में, कृति में न उतार दें, तब तक उस पर विचार की उपयोगिता ही क्या है? इसलिए विचार के अनुरूप अगर थोड़ा-सा भी आचार हो तो समाज में प्रगति होते देर न लगे।

महाभारत काल में दुर्योधन बड़ा राजनीतिज्ञ हो गया है। उसकी सभा में बड़े-बड़े विद्वान, दार्शनिक, इतिहासज्ञ, अर्थशास्त्री और राजनीतिज्ञ रहा करते थे। वे उसके सामने शास्त्रों का निचोड़ निकालकर रख देते थे किन्तु दुर्योधन सिर्फ यही कहता था—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्ति

अर्थात्—'मैं धर्म को जानता हूँ, परन्तु उसमें प्रवृत्ति नहीं करता। अधर्म को भी जानता हूँ पर उससे निवृत्ति नहीं है।'

सिर्फ पेट में किताबें ठूँस देने से ही कोई मनुष्य अगर ज्ञानी बन जाता हो तो पुस्तकालय की आलमारियाँ भी ज्ञानी हो जायँ।

एक शौकीन दार्शनिक के सामने एक आचार्य डींग हाँकने लगा कि—'मैंने भी बड़े-बड़े विद्वानों को देखा है, और उनके साथ वार्तालाप भी किया है।' दार्शनिक ने

[illegible] और अनेक लोगों के सुख के लिए [illegible]

अर्थात्—'भिक्षुओ, बहुत से लोगों के हित के लिए और अनेक लोगों के [illegible] के लिए विचरण करो। भिक्षुओ! अपनी जीवनचर्या के लिए सतत चलते रहो, मनन करते रहो।' सम्राट् अशोक ने भी बौद्धधर्म स्वीकार करने के पश्चात् दिग्विजय को छोड़कर धर्मविजय के लिए प्रतिवर्ष यात्राएँ कीं।

बौद्धधर्म के दूर सुदूर भूखण्डों में फैलने, लंका, जावा, सुमात्रा, ब्रह्मा (बर्मा) श्याम, चीन, जापान, तिब्बत आदि एशिया के विशाल भू-भागों में प्रसारित होने का श्रेय एकमात्र बौद्ध भिक्षुओं के पैदल भ्रमण को है, विचरण को है। बौद्ध भिक्षुओं ने सतत घूम-घूमकर अपने आचरण के द्वारा, उपदेशों के द्वारा, बुद्धशिक्षा के द्वारा उन तमाम भूभागों में धर्म, नीति, सभ्यता और संस्कृति का प्रचार-प्रसार किया है।

भारत के महापण्डित श्री राहुल सांकृत्यायन ने 'घुमक्कड़ शास्त्र' नामक एक पुस्तक पदयात्रा पर लिखी है, उसमें उन्होंने प्राचीन युग के घुमक्कड़ों का वर्णन करते हुए 'घुमक्कड़ी' के अनेक लाभों का वर्णन किया है। भगवान महावीर को भी उन्होंने 'घुमक्कड़राज' का पद दिया है और उनके भ्रमण के प्रभावों का वर्णन भी रोचक ढंग से किया है।

भगवान महावीर ने स्वयं ही अपने साधु साध्वियों को अपने प्रवचन में कहा था—

'भारण्डपक्खीव चरेऽप्पमत्ते'

अर्थात्—"हे श्रमणो! भारण्ड पक्षी की तरह अप्रमत्त होकर विहार करो, भ्रमण करो, विचरण करो।" जैन और बौद्ध श्रमणों के विहार करने के कारण ही उस प्रान्त का नाम 'विहार' हो गया।

पुराने युग की बात को छोड़ भी दें और वर्तमान पर ही दृष्टि डालें तो आज भी सैकड़ों जैनश्रमण भारत के इस छोर से उस छोर तक पैदल घूम-घूमकर जन-जन के मन-मन्दिरों में अहिंसा और सत्य की विराट् ज्योति जगाते ही हैं। उनके पास न घोड़ा है, न ऊँट, न मोटर है, न वायुयान, न साइकिल है, न टमटम। फिर भी जैन [illegible] एक गाँव से दूसरे गाँव तक, एक नगर से दूसरे नगर तक, एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त तक अपनी मस्ती से भरी जिन्दगी की मस्ती में झूमते हुए हजारों मील की पदयात्रा करके, जन-जीवन को आध्यात्मिक और धार्मिक विचारों का प्रसाद [illegible] नंगे सिर, नंगे पाँव, अपने पोथी पन्ने, वस्त्रपात्र अपने साथ [illegible] चलता जाता है। [illegible] की चाह होती है और न किसी [illegible] [illegible] है। [illegible] न उसे किसी साथ [illegible] साधु मर्यादा में रहते हुए [illegible] [illegible] है। वह गाँवों, नगरों में अपनी [illegible] [illegible] की [illegible] को, गुत्थियों को [illegible] [illegible] है। इसीलिए कहा है—'विहार-चरिया मुणीण [illegible] [illegible] है। और विनोबाजी [illegible]

देखिये ! पैदल घूम-घूमकर ही भारत के इस महान् विचारक ने किस प्रकार एक नई अहिंसक विचार-क्रान्ति को जन्म दिया और 'भूदान' से लेकर ग्रामदान तक के विचारात्मक आन्दोलन से किस प्रकार दुनिया के दिल-दिमाग को हिला दिया, यह सूरज की रोशनी की तरह स्पष्ट है। भारत के इस राष्ट्रीय सन्त ने पदयात्रा द्वारा कमाल कर दिखाया है, उससे विदेशी लोग भी देखकर दांतों तले अंगुलि दबाने लगे हैं। वे भी स्वामित्व-विसर्जन की बात को घर-घर और झोंपड़ी-झोंपड़ी में पहुंचाने के लिए इसी पदयात्रा को अपनाने लगे हैं। भारत के इस दार्शनिक के पास एक ही आदर्श मंत्र है—चले चलो ! बढ़े चलो ! पैदल ! पैदल ! पैदल !

नोआखाली के दंगे के समय महात्मा गांधी ने पदयात्रा को क्यों अपनाया था ? उसका कारण यही था कि गांव-गांव में छोटे से छोटे, दुःखी से दुःखी जन की अन्तःपुकार को सुन सका जाय। वाहनों में बैठकर सपाटे के साथ घूमने वालों से जन-सम्पर्क भारत की असली जनता से सम्बन्ध टूट जाता है। और यही कारण है कि भारत की राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस को मजबूत बनाने के लिए और कांग्रेस के सिद्धान्तों में जान डालने के लिए कांग्रेस के उच्चकोटि के नेताओं ने पदयात्रा द्वारा जन-सम्पर्क का मार्ग स्वयं अपनाया है और कांग्रेसी कार्यकर्ताओं को भी पदयात्रा की योजना अपनाने का दिशा-निर्देश दिया है। सचमुच, अगर पदयात्रा की योजना सारे भारत के कांग्रेसी लोगों ने अपनाली तो निःसन्देह ग्रामीण जनता से सम्पर्क बढ़ेगा, उनके असली दुःख-दर्दों का पता लगेगा और भारत का भाग्य पलट सकेगा।

सच पूछिए तो, यात्रा के असली आनन्द की अनुभूति पैदल चलने में ही है। वाहनों पर लदकर सपाटे से किसी इलाके से गुजर गए तो वहां के जनमानस से कोई परिचय नहीं होता, वहां की असली स्थिति का कोई पता नहीं लगता और यही कारण है कि साधु वर्ग जनता के जीवन की उलझी हुई गुत्थियों को समझ कर सुलझाने, जन-जीवन में प्रविष्ट बुराइयों की चिकित्सा करने के लिए और साथ ही अपनी स्वतन्त्रता से साधुता की साधना करने के लिए पादविहार अपनाता है। एक पाश्चात्य विचारक ने तो यहाँ तक कहा :—

'He travels best, who travels on-foot'

जो पदयात्रा करता है, उसी की यात्रा सर्वोत्तम है। पदयात्रा जीवन में चैतन्य का लक्षण है। इस चैतन्य की अनुभूति वही कर सकता है, जिसे कभी पदयात्रा करने का सौभाग्य प्राप्त होता हो। प्रकृति के [illegible] दृश्यों की झांकी देखनी हो तो पैदल चलना उपयुक्त है। शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को ठीक रखना हो तो पैदल चलना हितकर है, [illegible] और कस्बों का [illegible] प्रत्यक्ष [illegible] हो तो पैदल [illegible] [illegible] के उत्थान-अभ्युदय और समाज की गतिविधियों का पर्यवेक्षण [illegible] [illegible]

भारत के धर्म और दर्शन ही यात्रा को, विचरण को महत्व देते रहे हों, यह बात नहीं है। किन्तु जापान के शिंटो धर्म या बुशीडो धर्म ने भी यात्रा के महत्व को स्वीकार किया है। हज का सवाब बतलाने वाले इस्लाम धर्म ने भी उसे स्थान दिया है और सन के कपडे पहन कर येरुसलम की पवित्र भूमि तक यात्रा करने वाले ईसाई भक्तो को भी यह अत्यधिक प्रिय है।

भारत के महान् वैदिकधर्म और उसकी शाखाओ—वैष्णवधर्म, शैवधर्म या हिन्दूधर्म ने भी प्रत्येक भक्त के लिए तीर्थयात्रा का विधान किया है। प्राचीन काल मे जब यातायात के आज के से साधन नहीं थे तो लोग पैदल ही तीर्थयात्रा करने निकलते थे और अनेक ज्ञान-विज्ञान का सम्पादन करके लौटते थे।

मानव जीवन की गहनता व वास्तविक जीवन की अनुभूति तथा सांस्कृतिक अध्ययन और नैतिक परम्पराओ का तलस्पर्शी अनुशीलन जो एक घुमक्कड कर सकता है, उसकी कल्पना वाहन-विहारी कभी नहीं कर सकता। जितने भी भूगोल के विद्वान् हुए है, उन्होने केवल कल्पना के घोडे नहीं दौडाए है, अपितु उन-उन स्थानो का स्वय निरीक्षण-परीक्षण करने के बाद ही भूगोल की पुस्तके लिखी है। आप देखेंगे कि जितने भी महान् कवि हुए है, वे प्राय घुमक्कड थे। कविकुलगुरु कालिदास का नाम आपने सुना होगा। जिनकी महान् कृतियो को देखकर विदेशी विद्वान भी चकित है। उनके काव्यो मे जो चमत्कार आया है, उसका श्रेय घुमक्कडी को है। उन्होने श्वेत हिमाच्छादित हिमालय और सदा हरित तुगशीर्ष देवदारु की प्राकृतिक सुषमा का जो वर्णन किया है, वह किसी से सुना-सुनाया नहीं, अपितु स्वय देखकर ही उन्होने कहा था—

अमु पुर पश्यसि देवदारु, पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन।

रघु की दिग्विजय यात्रा के वर्णन मे जिन-जिन देशो का उन्होने वर्णन किया है, वे प्राय उनके देखे हुए थे, और जो नहीं देखे हुए थे, उनके बारे मे उन्होने पूरी जानकारी प्राप्त की थी।

आपने कादम्बरी महाकाव्य का नाम सुना होगा, जिसकी समकक्षता संस्कृत गद्य साहित्य मे आज दिन तक कोई ग्रन्थ नहीं कर सका है। गद्य-गीर्वाण वाणी मे आज तक भी उसके समान अनूठा ग्रन्थ ढूंढने पर भी नहीं मिल सका है। उसके रचयिता महाकवि बाणभट्ट थे, जिनके सम्बन्ध मे संस्कृत विज्ञो मे यह लोकोक्ति है—'बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वं', वे पक्के घुमक्कड थे। कितने ही समय तक तीन दर्जन से अधिक काव्यकलाविदों को लेकर भ्रमण किया था। दशकुमारचरित के रचयिता महाकवि दण्डी भी घुमक्कड थे। मां की गोदी मे [illegible] सजगता से वे [illegible] [illegible] देशाटन शुरू किया था।

कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्र आचार्य, वादिमानमर्दन सिद्धसेन दिवाकर, और हरिभद्रसूरि, समन्तभद्रसूरि आदि जिनको भी संस्कृत-प्राकृत साहित्य के उन्नायकों मे [illegible] [illegible] हुए है, वे भी पक्के घुमक्कड थे। जैन साधुओं के

कारण भी वे घुमक्कड़ थे ही, साथ ही विविध विचारधाराओं, संस्कृतियों, परम्पराओं, जनरुचियों आदि का पर्याप्त ज्ञान करने के लिए भी वे पादविहारी थे। बृहत्कल्पभाष्य व्यवहारभाष्य में साधुओं के लिए उग्रविहारी और अप्रतिबद्धविहारी होना आवश्यक बतलाया है, साथ ही विविध देश की भाषाओं, संस्कृतियों, रहन-सहन आदि की जानकारी के लिए भी उग्रविहार करना चाहिए, ताकि वह वहाँ की जनता को नैतिक धार्मिक प्रेरणा उनकी स्थिति-परिस्थिति को देख कर दे सके।

हिन्दी साहित्य के महाकवि देव तो पक्के घुमक्कड़ थे। घूम-घूम कर ही उन्होंने देश-देश की ललनाओं का चित्र चित्रित किया था। काव्यप्रतिभा के निखार में देशाटन का महत्त्व कम नहीं है।

हाँ, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि पदयात्रा में कदम-कदम पर कठिनाइयाँ सामने आती हैं। पदयात्री को प्रतिक्षण कठिनाइयों की कष्टकर मंजिल के कठिन दौर में से गुजरना पड़ता है। पैदल घूमना फूलों का मार्ग नहीं, काँटों का मार्ग है, सुखविलास का मार्ग नहीं, दुःखों का, संकटों का मार्ग है। कष्ट-सहिष्णु व्यक्ति ही इस दुर्गम-पथ का पथिक हो सकता है। इस मार्ग पर चलते समय कभी-कभी आपत्तियों के पहाड़ टूट पड़ते हैं। कभी कहीं सत्कार मिलता है तो कभी कहीं दुत्कार। कभी प्रेम का अमृत मिलता है तो कभी द्वेष का हलाहल जहर। कभी रहने को ऊँची अट्टालिकाएँ मिलती हैं, तो कभी टूटी-फूटी झोंपड़ी मिलती है। 'कभी घी घना तो कभी मुट्ठी चना' वाली कहावत पदयात्री पर लागू होती है। इसीलिए भारत के उस महान् कवि की वाणी प्रकट हो उठी—"परदेश कलेश नरेशहु को" परदेश में नरेश को भी कष्ट मिलता है साधारण मानव की तो बात ही क्या ? सच्चा मानव, सच्चा पदयात्री अपने विहार में आने वाली कठिनाइयों, विघ्न-बाधाओं और तूफानों को देखकर घबराता नहीं, हिचकता नहीं, ठिठकता नहीं, रुकता नहीं। वह कठिनाइयों के समय इस शेर से प्रेरणा ले लेता है—

"काट लेना हर कठिन मंजिल का कुछ मुश्किल नहीं।
इक जरा इन्सान में चलने की आदत चाहिए॥"

पदयात्रा में रहने साधक में सारी चेतना-शक्ति जाग्रत हो जाती है। वह नये-नये आदमियों से, नये-नये गांवों से, नये-नये मकानों में और नये-नये खान-पानों से साक्षात्कार करता है तब उसकी निगाह चेतना-शक्ति मुस्कराहट से सब कठिनाइयों का स्वागत करने को तैयार हो जाती है। उसके अन्तर में कवि की यह वाणी गूंजने लगती है—

[illegible] खानाबदोशी की [illegible] सामानी।
नयी मंजिल, नया बिस्तर, नया दाना, नया पानी।

[illegible]

आगे बढ़ता जाता है, अपने ध्येय की ओर, अपनी मंजिल की ओर। चाहे कितनी ही विघ्न-बाधाएं आएं, तूफान और आंधियाँ आएं, किन्तु उसके विचार लड़खड़ाते नहीं, कदम डगमगाते नहीं, हिमालय की चट्टान की तरह वह अडिग रहता है।

हाँ, तो भारतीय संस्कृति का धुमक्कड़ मन्त्र वैदिक ऋषि के शब्दों में **'चरन्वै मधु विन्दति'** चलने वाला सतत विचरण करने वाला मधुरता को प्राप्त करता है। जीवन की परम मधुरिमा उसे प्राप्त हो जाती है। वह **'स्वान्तः सुखाय'** के लिए ही नहीं **'सर्वजन सुखाय, सर्वजन हिताय'** विचरण करता है, परिभ्रमण करता है। वह जहाँ भी जाता है, जिस किसी भी इन्सान के सम्पर्क में आता है, अगर उसमें कोई रोशनी विद्यमान है, जागने की शक्ति विद्यमान है, शक्तियाँ सोई हुई हैं, तो वह अपने प्रयत्न से उन्हें जागृत कर देता है, गतिमान करने का प्रयत्न कर देता है।

जिस मनुष्य की कनीनिका में रोशनी विद्यमान है और उस पर किसी कारणवश मोतिया आ गया है तो डॉक्टर आपरेशन करके उस आवरणरूप मोतिये को हटा देता है, जिससे उक्त मनुष्य को पूर्ववत् दिखलाई देने लगता है। किन्तु जिस मानव की कनीनिका में रोशनी ही नहीं है, वह नष्ट हो चुकी है और उस पर मोतिया आ गया है तो डाक्टर के द्वारा मोतिया हटा देने पर भी उस मानव को रोशनी प्राप्त नहीं हो सकती, क्योंकि मूल में रोशनी नहीं है तो कितना ही कुशल डाक्टर क्यों न हो, वह उसे रोशनी नहीं दे सकता। यही बात साधक के सम्बन्ध में भी है। साधक जहाँ भी विहार करके जाता है, वहाँ के मानवों में अगर कुछ श्रद्धा है, ग्रहण करने की योग्यता है, साधना की ओर गति करने की क्षमता है तो वह उनकी आत्मा पर आए हुए मिथ्यात्व, मोह या वासना के आवरण को हटा कर उन्हें गति-प्रगति करने के लिए रोशनी प्रकट कर सकता है। किन्तु अगर उनमें आगे बढ़ने की क्षमता ही नहीं है, ग्रहण करने की शक्ति ही नहीं है तो वह कुशल साधक चाहे कितनी ही उपदेशरूप औषधियाँ दे, किन्तु मोहावरण या मिथ्यात्व का पर्दा दूर नहीं हो सकता, रोशनी प्रकट नहीं हो सकती।

जो स्वयं जागृत है, उसे जगाने के लिए संसार में अनेक निमित्त मिलते हैं और यदि जागृत है, उसमें प्राण हैं, आत्मा है, चेतनाशक्ति है तो जमीन कहती है—"जवान! जागो, तुम संसार के सर्वस्व हो। लो, तुम्हें मैं अच्छी तरह से फलने फूलने के लिए जगह देती हूँ।" पानी कहता है—"[illegible]! यह मधुर पानी तुम्हारे लिए तैयार है। तुम इसे पीकर आगे बढ़ो।" हवा कहती है—"संसार के प्राण! तुम्हें गर्मी लगती हो या मैं पंखा करती हूँ, तुम विश्राम करो।" सूर्य की चिलचिलाती धूप कहती है—"वीर पुरुष! तुम तपस्वी बनो! मैं तुम्हें प्रगति करने के लिए प्रकाश देती हूँ।" लेकिन अगर वीर मुर्दा है, मरा है, प्राणरहित है, स्वयं जागृत नहीं है तो पृथ्वी कहती है—[illegible] ! निस्तेज हो करके मेरे शरीर में क्यों सड़ रहे हो, [illegible], सड़ जाओ, नष्ट हो जाओ, तथा जर्रे-जर्रे में मिल जाओ।

पानी भी उसे सड़ाने में सहायक हो जाता है। जो पोषक था, वह भी शोषक बन जाता है। हवा भी उसे सुखाने लगती है और सूर्य का प्रकाश उसे जलाने लगता है। खाद भी उसे अपने में मिलाने का प्रयास करती है। हाँ तो, जिसमें चेतना-शक्ति नहीं है, उसे निमित्त भी विकास करने के लिए सहायक नहीं होता। इसी प्रकार समाज के जिन व्यक्तियों में जहाँ जागृति है, उपादान शुद्ध है, बीज में सजीवनी-शक्ति मौजूद है तो ऐसे घुमक्कड़ निःस्पृही साधकों का निमित्त भी उन्हें प्राप्त हो जाता है।

आप जानते हैं कि धर्मास्तिकाय का गुण चलनसहायक है, गतिसहायक लक्षण वाला है, किन्तु जब हम चलेंगे, गति करेंगे तभी वह सहायक होता है। यदि हम स्थिर हैं तो वह हमें चला नहीं सकता। मछली चलती है तो पानी उसे मदद दे देता है। इसी प्रकार आप जीवन के किसी भी क्षेत्र में सम-दृष्टि से गति-प्रगति करना चाहेंगे तो हमारी धर्ममय प्रेरणा उसमें मिलेगी ही।

वास्तव में गति करना ही जीवन का लक्षण है। जिस जीवन में गति नहीं है, स्पन्दन नहीं है, सञ्चार नहीं है, वह जीवन मुर्दा जीवन है। इसीलिए जीवन का विश्लेषण करते हुए जयशङ्कर प्रसाद ने कहा है—

"इस जीवन का उद्देश्य नहीं है शान्ति भवन में टिक रहना।
किन्तु पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं॥"

हाँ तो, जीवन का सही विकास करना हो तो गति-प्रगति करिए। 'चर' धातु से ही आचार, विचार, संचार, प्रचार, उच्चार, उपचार आदि शब्द बनते हैं। इन सबके मूल में 'चरना' है, चार क्रिया है। आप भी अपने जीवन में 'चर' को स्थान दीजिए, घबराइए नहीं। आपका व्यक्तित्व चमक उठेगा, आपका विकास सर्वतोमुखी हो सकेगा, आपकी प्रतिभा बहुमुखी खिल उठेगी। अपने मनमस्तिष्क का प्रवाह इसी ओर मोड़िये। श्रमण-संस्कृति का आकर्षण इसी ओर रहा है। चरैवेति, चरैवेति! चले चलो! बढ़े चलो!!

५

विवेक का प्रकाश

हमारे जीवन का ताना-बाना आज से नही अनन्तानन्त काल से उलझा हुआ है। उसे सुलझाने के लिए आर्यावर्त्त के महामानव महावीर ने हमे एक महत्त्वपूर्ण दृष्टि दी। उन्होने कहा—"साधक, तेरा मार्ग विवेक के चमचमाते हुए प्रकाश से प्रकाशित हो। तू ससार की अन्धेरी गलियो मे भटकते समय विवेक का टार्च अपने पास रख, जिससे मगलमय प्रकाश मे तू यह देख सके कि कहाँ विषय-वासना का गर्त है और कहाँ क्रोध-लोभ की भयकर चट्टाने है, कहाँ मोहमाया का फिसलना कीचड है और कहाँ पर मान का काला सर्प फुफकार रहा है? जहाँ तक तेरे अन्तर्मन मे विवेक की ज्योति जगमगाती रहेगी, वहाँ तक तू विषय-वासना के गर्त मे नही गिरेगा, और न क्रोध-लोभ की चट्टान मे ही टकरायेगा। उठना, बैठना, खाना, पीना, सोना आदि तेरी समस्त दिनचर्या यदि विवेक के प्रकाश मे होती है तो तुझे पाप कर्म के बन्ध का लेप नही लग सकेगा। यदि विवेक का दीपक गुल हो गया है तो जीवन का प्रत्येक कम्पन पाप कर्म का पैदा करेगा। आचार्य कुन्दकुन्द ने एक स्थान पर बताया है कि "द्रव्यत्याग द्रव्यपूजा, द्रव्यमाला, द्रव्यजप-तप आदि साधनाए विवेक के अभाव मे किसी काम की नही है। वे विवेकशून्य होने के कारण साधक की आत्मा को ससार की अनेक योनियो मे भटकाती रहती है, उन साधनाओ से आध्यात्मिक जीवन का विकास नही होता।"

जैनधर्म विवेक-प्रधान धर्म है। यहाँ धर्म के व्याख्याकार प्रत्येक साधना को, चाहे वह लघु हो, चाहे महान्, चाहे स्वल्प हो, चाहे विशद, चाहे छोटी हो, चाहे बड़ी, [illegible] वे विवेक की कसौटी पर कसकर देखते है। जिस साधना मे विवेक है, वह [illegible] साधना है, शुभ योग वाली साधना है, और जिसमे अविवेक है, वह असम्यक् [illegible] शुभ योग वाली है। शुभ योग वाली साधना जहाँ पाप को नष्ट करती है, वहाँ [illegible] योग वाली साधना पाप को बढाती है, जन्म-मरण के कुचक्र मे फँसाती है। [illegible] जितना विश्लेषण, जितना मनन-चिन्तन और जितनी व्याख्या जैनदर्शनकारो ने [illegible] शायद ही किसी दूसरे दर्शन ने की हो। फिर उस विवेक का [illegible] दर्शनकारो ने विभिन्न रूप से प्रस्तुत किया हो। शास्त्रकारो [illegible] 'यतना' या 'यत्नाचार' कहा है। और 'जयणा धम्मस्स जण

कहकर इसे धर्म की माता कहा है। आचारांग सूत्रकार ने स्पष्ट रूप से कहा है—"विवेगे धम्ममाहिए" विवेक में ही धर्म निहित है। जहाँ विवेक है वहाँ धर्म है, जहाँ अविवेक है वहाँ पाप है। कहीं विवेक के स्थान में 'प्रतिलेखना' शब्द का प्रयोग किया है, कहीं 'जागरण' शब्द, कहीं 'अप्रमाद' शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु घुमा-फिराकर अर्थ सबका एक ही होता है। निशीथसूत्र के भाष्यकार ने जगत् के सभी मानवों के सामने जागरण का उद्घोष किया है—

'जागरह नरा ! णिच्चं जागरमाणस्स वड्ढती बुद्धी।
जो सुवति ण सो सुहितो, जो जग्गति सो सया सुहितो॥'

अर्थात्—हे मनुष्यो ! जाग्रत रहो ! जो नित्य जाग्रत रहता है उसकी विवेकबुद्धि बढ़ती रहती है। जो प्रमाद में सो जाता है, वह ज्ञानादि धन के योग्य नहीं रहता, ज्ञानादि धन का पात्र वही होता है जो जाग्रत रहता है।

भगवती सूत्र में राजकुमारी जयन्ती ने भगवान महावीर से प्रश्न किया, उसका बड़ा रोचक और मार्मिक वर्णन है। जयन्ती राजकुमारी भगवान महावीर से पूछती है—"भगवन ! सोते रहना अच्छा है या जागते रहना अच्छा है ? सोते रहना श्रेष्ठ है या जागते रहना ?" भगवान् ने उत्तर देते हुए कहा—"**जयंती ! अत्थेगइयाण जीवाण सुत्तत्तं साहू, अत्थेगइयाण जीवाणं जागरियत्तं साहू।**" 'जयन्ती ! कई जीवों का सोते रहना अच्छा है, कई जीवों का जागते रहना अच्छा।' जयन्ती पुनः तर्कसंगत भाषा में पूछती है—"भगवन्, आपकी इस पहेलीमय भाषा को, दुविधाभरी बात को मैं समझ नहीं सकी, आप किस आशय से ऐसी दुहरी बात फरमा रहे हैं ?" भगवान महावीर ने कहा—"जयन्ती, मैं एक ही बात कह रहा हूँ, और वह कह रहा हूँ विवेक की भाषा में। प्रत्येक सिद्धान्त के दो पहलू होते हैं। सच्चाई दोनों तरफ होती है। जो एक ही पहलू से चिपका रहता है वह अविवेकी है। तुम दोनों पहलुओं से समझो कि सोने वाला क्यों अच्छा है।

'जयन्ती ! जो जीव अधार्मिक हैं, अधर्म का अनुसरण करते हैं, जिनको अधर्म ही प्रिय है, जो अधर्म की ही चर्चा करते हैं, जो अधर्म के ही प्रेक्षक हैं, अधर्म में ही आसक्त हैं, अधर्म में ही रंजित हैं, और जो अधर्म से ही अपनी जीविका चलाते हैं उनका सोना ही अच्छा है। ऐसे जीव जब तक सोते रहते हैं तो प्राण-भूत-जीव-सत्त्व समुदाय के शोक और परिताप का कारण नहीं बनते हैं। ऐसे जीव सोते रहते हैं, तो उनकी अपनी और दूसरों की, बहुत-सी अधार्मिक संयोजना नहीं होती। अतः ऐसे जीवों का सोना ही अच्छा है।

और हे जयन्ती ! जो जीव धार्मिक [illegible]

वहाँ निष्फल आत्म-पीडन है, और उसी को लेकर अपने को बड़ा मानना भी आत्म-वञ्चना हो सकती है।

इसलिए जिस राष्ट्र, देश, जाति धर्म या समाज मे संयम होता है, वह राष्ट्र, देश, जाति, धर्म या समाज कभी दुःखी, पतित और अवनत नहीं हो सकता है। गिब्बन ने 'रोम का इतिहास' लिखते हुए एक जगह लिखा है—"रोम का उत्थान संयम मे, सादगी मे और मितव्ययिता मे हुआ और पतन हुआ है विलासिता मे, असंयम मे, फिजूलखर्ची मे।"

सन् १९३२ मे उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द ने अपने एक भाषण मे कहा था—"संयम मे शक्ति है और शक्ति ही आनन्द की बुनियाद है। जो स्वयं संयमहीन है, वह शक्तिहीन भी होगा और शक्तिहीन आदमी आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता और न उसकी कल्पना ही कर सकता है।"

आज ससार मे सर्वत्र भय, निराशा और आतंक का साम्राज्य छाया हुआ है, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र मे सशंकित हो रहा है, मानव-मानव मे त्रस्त हो रहा है उसका कारण असंयम ही तो है। अगर आज सभी राष्ट्रों मे संयम की मधुर पयस्विनी कल कल निनाद करती हुई प्रवाहित हो चले तो राष्ट्रों का कायापलट हो जाय, सभी राष्ट्र सशक्त और समृद्ध हो जाय।

भारतवर्ष के धर्म-सम्प्रदाय भी अपनी वाणी पर संयम नहीं रख रहे है, एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय पर झूठे आक्षेप, निन्दा और रागद्वेषपूर्वक वाक्प्रहार करने मे बाजी मार रहा है। यह असंयम साम्प्रदायिक लोगों को शान्ति से नहीं जीने देता।

यही कारण है कि आज से २५०० वर्ष पहले आर्यावर्त के महामानव भगवान महावीर ने साधकों को सबोधित करते हुए कहा था—

"हत्थसजए, पायसजए, वायसजए सजइदिए"

अर्थात्—'हाथों को संयम मे रखो, पैरो को संयम मे रखो, वाणी पर संयम रखो, इन्द्रियों पर संयम रखो।" महात्मा बुद्ध ने भी अपने शिष्यों से कहा था—

'हत्थसयतो, पादसयतो, वाचा सयतो"

अर्थात्—'हाथो पर सयमी बनो, पैरो को सयम मे रखो, वाणी को वश मे रखो।"

जिस व्यक्ति के कान अनिमेष [illegible] स्वर्गीय संगीत की स्वरलहरी सुनने के लिए लालायित रहते हों, नेत्र सुन्दरियों के सुन्दर रूप को देखने के लिए तरसते हों, नाक [illegible] इत्रों की सौरभ को ग्रहण करने के लिए छटपटाती हो, जिह्वा स्वादिष्ट भोजन का आस्वाद करने के लिए ललचाती हो, और शरीर सुकोमल वस्तुओं का [illegible] है, वह सयमी नहीं है, वह इन्द्रियों का दास है [illegible]।

घोड़े का एक रईस होता है, दूसरा होता है सईस। सईस घोड़े को खिलाता है, पानी पिलाता है, नहलाता है, उसकी लीद उठाता है, किन्तु रईस का यह काम नहीं होता। वह घोड़े का स्वामी होता है, दास नहीं। वह घोड़े पर सवारी करता है। शास्त्र के ऋषियों ने इन्द्रियों को घोड़े की उपमा दी है। "इन्द्रियाणि हयानाहु" (कठोपनिषद्)।

जो आत्मा इन्द्रियों का सेवक है वह सईस है और जो इन्द्रियों का स्वामी है, वह रईस है। आपसे जरा पूछ लूं? आप क्या बनना चाहते हैं? रईस बनने के लिए इन्द्रियों पर संयम करना होगा, अधिकार करना होगा, वासना पर विजय प्राप्त करनी होगी। उस समय आपका नारा यह नहीं होगा—

"सैर कर दुनिया की गाफिल, जिन्दगानी फिर कहाँ?
जिन्दगानी गर मिली तो, यह जवानी फिर कहाँ?"

यह नारा तो सईसों का है, रईसों का नहीं। रईसों का तो यह नारा है— "सजमम्मिय वीरियं" संयमाचरण में शक्ति लगाना ही जीवन की सार्थकता है। 'संयमः खलु जीवनम्' वास्तव में 'संयम ही जीवन' है—असंयमी जीवन, जीवन है ही नहीं, एक प्रकार की गुप्त मृत्यु है।

संसार के अन्य समस्त प्राणी भी जीते हैं और मनुष्य भी जीता है। परन्तु दोनों के जीने में अगर कोई तारतम्य नहीं है, दोनों का जीना एक ही ढर्रे-ढंग से चल रहा है, एक ही लक्ष्य दोनों के जीने का है, तब तो मानव और अन्य प्राणियों में क्या अन्तर रहा? यदि मनुष्य की जिन्दगी का लक्ष्य खाने के लिए, कपड़े पहिनने और मौज शौक करने के लिए, ऐशो-आराम और सुख-सुविधाओं के लिए, धन कमाने के लिए हुआ, तो पाशविक जीवन और मानवीय जीवन के जीने में क्या अन्तर रहा? अतः जिस मानव के अन्तर्हृदय में जीवन का लक्ष्य खाना-पीना, पहिनना नहीं, किन्तु स्वयं संयमपूर्वक जीना और दूसरों को आनन्द से जीने देना होता है, वह खाता है, पीता है, पहिनता है, यथायोग्य वस्तुओं को भी अपनाता है, किन्तु केवल जिन्दगी टिकाने के लिए। इसलिए इन वस्तुओं में जितना भी संयम हो सकता है वह करता है।

जिस मनुष्य का अपने आप पर संयम होता है वह चाहे कहीं भी चला जाय कभी दुखी नहीं होता, असफल नहीं होता, दूसरों से अपमानित नहीं होता। उसकी जिन्दगी हल्की और खुशहाल होती है। वास्तव में संयम ही आनन्द की कसौटी है। जिसके जितना अधिक संयम होता है उसके उतनी ही अधिक प्रसन्नता होती है।

[illegible]

अनुभवो का निचोड जगत् के सामने रखा कि रणक्षेत्र मे युद्ध करने वाला योद्धा सैकडो और लाखो को पराजित कर सकता है, प्रसिद्ध योद्धा के रूप मे जगत् के नक्शे पर चमक सकता है, किन्तु अपने मन और इन्द्रियो पर काबू पाना, उन्हे जीतना बडा ही कठिन है। इन्हे जीतने वाला सयमी ही वास्तविक योद्धा है, विजयी शूरवीर है। एक विचारक ने कहा है कि पाँच इन्द्रियो और चार कषायो पर जो विजय प्राप्त करता है वही मानव है।

आज विश्व के अधिकाश लोगो की दृष्टि बहिर्मुखी बनी हुई है। वे रात-दिन अमुक पदार्थों के उपभोग-परिभोग का ही चिन्तन किया करते है, अमुक पदार्थों के सयोग-वियोग के साथ ही उनके मन का हिडोला डोलता रहता है। इस प्रकार के लोग स्वय दुखी होते है और अपने कुटुम्ब, समाज, जाति और देश को दुख के प्रवाह मे बहा जाते है। उनकी बहिर्मुखी दृष्टि के कारण वे प्रत्येक व्यवहार मे, रीति-रिवाज मे, सामाजिक प्रथाओ मे उसी बहिर्जगत् को दृष्टिगत रखते हुए सोचते है, खर्च करते है, उपभोग करते है। उनकी दृष्टि अन्तर्मुखी बने बिना उनमे वास्तविक सयम आ नही सकता। जिसकी दृष्टि अन्तर्मुखी बन जाती है, वह बाह्य जनसमुदाय, जाति या अमुक समाज की दृष्टि से न सोचकर आत्महित की दृष्टि से सोचता है और व्यवहार करता है। वास्तव मे चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से दृष्टि बहिर्मुखी रहती है और उसी से रागद्वेष रूप कषाय भाव का प्रादुर्भाव होता रहता है, और यही असयम है। असयम के होने पर आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप मे रमण नही करता। वह पुद्गलानन्दी बन कर वासनाओ मे रमण करने मे ही श्रेय समझता है।

भारतवर्ष के सभी धर्मों के अपने-अपने शास्त्रो ने यह बात खूब अच्छी तरह बतला दी है कि पाँचो इन्द्रियाँ अपने-आप मे खराब नही है और न मन अपने आप मे बुरा है। इनका दुरुपयोग बुरा है और सदुपयोग अच्छा है। अगर कुशल प्रयोक्ता इन्ही इन्द्रियो और मन को शुद्ध परिणति की ओर मोडता है, विषयो मे प्रवृत्त होने पर भी उन्हे आसक्ति मे, राग-द्वेष से युक्त नही होने देता है, तो वह सयमी है, स्थितप्रज्ञ है। भगवद्गीता मे इसी बात का रहस्य खोलते हुए श्री कृष्ण अर्जुन से कहते है—

'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौह्यस्य परिपंथिनौ॥"

प्रत्येक इन्द्रिय के साथ राग और द्वेष का काँटा लगा हुआ है कुशल साधक उन रागद्वेष के वशीभूत न हो, क्योंकि इन्द्रिया शत्रु नही है, राग द्वेष ही शत्रु है।

यही बात भगवान् महावीर ने पावापुरी के अन्तिम प्रवचनो मे—उत्तराध्ययन सूत्र के [illegible] अध्ययन के रूप मे कही है कि राग और द्वेष ये दोनो ही शत्रु है, [illegible] प्रत्येक इन्द्रिय विषय से [illegible] हटा ले तो मनुष्य इस ससार मे कमल पत्र की तरह निर्लिप्त होकर विचरण कर सकता है।

[illegible] साधक को [illegible] होकर इन्द्रिय-विषयो मे प्रवृत्ति करने की

सचाई भी शास्त्रकारों ने की है। उन्होंने कछुए के रूपक द्वारा साधकों को सावधान किया है। भगवान महावीर ने सूत्रकृताङ्ग सूत्र में साधकों को यही संदेश दिया है—

जहा कुम्मे स अंगाई, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे॥

अर्थात्—जैसे कछुआ भय उपस्थित होने पर अपने अङ्गोपाङ्गों को सिकोड़ लेता है, वैसे ही साधक भी विषयाभिमुख इन्द्रियों को आत्मज्ञान से सिकोड़ ले।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है—

'यदा संहरते चायं, कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्य, स्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥'

अर्थात्—जैसे कछुआ अपने अङ्गों को (बाह्य भय उपस्थित होने पर) समेट लेता है, वैसे ही जो मनुष्य इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों को हटा लेता है, उसकी प्रज्ञा स्थिर है।

आपने शंकर के मन्दिर के बाहर कछुए की मूर्ति देखी है न! वह कछुए की मूर्ति इस बात की प्रतीक है कि यदि तुम शंकर के दर्शन करना चाहते हो तो पहले कछुए के समान अपनी इन्द्रियों को अपने अधिकार में करना सीखो। जब तक कूर्म धर्म को धारण न करोगे तब तक शंकर के दर्शन (सुख के दर्शन) नहीं कर सकोगे।

इस प्रकार संयम जीवन के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य वस्तु है। बिना संयम के आने वाले पापकर्म का प्रवाह (आस्रव) रुक नहीं सकता। छत चू रही हो, उसमें पानी आ रहा हो तो उसे तोड़ कर आप नई छत नहीं बनाते अपितु पुरानी छत की मरम्मत करवा देते हैं। जिससे टपकता हुआ पानी बन्द हो जाता है। आत्मारूपी छत है, इन्द्रिय-विषयरूप छिद्रों के द्वारा उसमें पापास्रव का पानी आ रहा है, उसे संयमरूप लेप के द्वारा रोकिए। आस्रव को रोके बिना संवर और सकामनिर्जरा नहीं हो सकती। भगवान महावीर से उनके अन्यतम शिष्य गौतम गणधर ने प्रश्न किया—**'संजमेण भंते! जीवे किं जणयइ?'** (भगवन्! संयम से प्राणी को क्या प्राप्ति होती है?) भगवान महावीर ने कहा—

'अणण्हयत्तं जणयइ'

[illegible]

[illegible]

ज्योति जगमगाती रही हो, फिर वह चाहे जिस जाति, कुल, देश या वेष का व्यक्ति रहा हो ।

राजपूताने के इतिहास की एक चमकती हुई घटना है । मुगलिया सल्तनत के शासक औरंगजेब ने भारत के प्रायः सभी सीमाप्रान्तों पर अपना साम्राज्य कायम कर लिया था, किन्तु राजपूताना के वीर राजपूत चुप नहीं बैठे थे । वे बादशाह से लोहा ले रहे थे तो बादशाह भी उन वीरों से लड़ रहा था । बादशाह औरंगजेब की बेगम गुलेनार बड़ी स्वतन्त्र प्रकृति की औरत थी । बड़े घरानों के लोगों की इच्छाएँ भी ऐसी होती हैं, वे दिन-दूनी और रात-चौगुनी बढ़ती रहती हैं, किन्तु मिटती नहीं । पैसा और वासना मनुष्य के जीवन को बरबाद कर देते हैं । भारत में सोने की दो नगरियाँ प्रसिद्ध हैं, एक थी लंका और दूसरी थी द्वारिका । मगर दोनों का नतीजा क्या निकला, वह हमारे सामने है । दोनों का विनाश वासना से होता है, असयम से होता है । लंका और द्वारिका जो एक दिन वैभव की दृष्टि से चकाचौंध पैदा करने वाली थीं, वे ही एक दिन वासना के कारण गहरे अन्धकार में डूब गईं । असयम के कारण दोनों का घोर पतन हो गया ।

हाँ तो, गुलेनार ने युद्ध के मैदान में राजस्थान के वीर दुर्गादास की वीरता देखी तो वह उस पर मुग्ध हो गई । सोचा—"इसे कैसे प्राप्त किया जाय ?" उसने मन ही मन युक्ति सोचकर बादशाह से कहा—"दुर्गादास बड़ा खूँखार है, जालिम है, इसे जिन्दा ही पकड़कर क्यों नहीं कैद कर लिया जाय !" बादशाह को बेगम की बात जँच गई । दुर्गादास पकड़ा गया । उसके हाथों और पैरों में लोहे की जंजीरें पड़ गईं । आज वह नरवीर लोहे के सींकचों में बन्द था, किन्तु उसका हृदय आजादी के लिए तड़प रहा था । वह सोच रहा था कि किस प्रकार भारत को स्वतन्त्र बनाऊँ । आज आपके जीवन में जोश नहीं है, खून में गर्मी नहीं है । कवि की भाषा में कहूँ तो—

"वह खून कहो किस मतलब का, जिसमें उबाल का नाम नहीं ।
वह खून कहो किस मतलब का, आ सके देश के काम नहीं ॥
वह खून कहो किस मतलब का, जिसमें जीवन की न रवानी है ।
जो परवश होकर बहता है, वह खून नहीं है पानी है ॥"

युवको, उठो ! तुम्हारे उठने से समाज उठेगा । आज दुर्गादास रात में देश आजादी का मन्त्र तैयार कर रहा था । रात के बारह बज चुके थे, अन्धेरा छाया हुआ था, चारों ओर सन्नाटा था, वातावरण में निस्तब्धता थी, निद्रादेवी की गोद में सभी विश्राम कर रहे थे । उसी समय द्वार खुलने की आवाज आई । दुर्गादास देखता है, एक नौजवान चाँद-सा सुकोमल युवक दबे-पाँव कदमों से आगे बढ़ रहा है । उसके एक हाथ में खंजर था, दूसरे हाथ में तलवार और उसके पीछे सोलह शृंगार सजी हुई एक नारी थी । 'अरे यह कौन ? गुलेनार !' सोचा—"यह यहाँ क्यों आई, इस [illegible] का क्या काम ?" सोच ही रहा था कि बेगम आकर सामने खड़ी

हो गई। बोली—"दुर्गादास जानते हो मैं कौन हूँ?" "हाँ, हाँ, क्यों नहीं जानता! तुम मुगलिया सल्तनत के बादशाह की बेगम हो, महारानी हो। तुम्हारे इशारे पर बादशाह नाचता है।" "अच्छा दुर्गादास तब तो तुम मुझे जानते हो, किन्तु दुर्गादास, तुमसे मेरा एक प्रस्ताव है। आज मैं एक आशा लेकर यहाँ आई हूँ, एक बड़ी भावना से आई हूँ। आशा है तुम मेरे प्रस्ताव को ठुकराओगे नहीं। तुम्हें मेरा प्रस्ताव स्वीकार करना होगा। यदि इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया तो मालामाल हो जाओगे भारत का ताज तुम्हारे सिर पर होगा। अन्यथा यह तलवार तुम्हारे सिर पर होगी।"

मानव मौत से डरता है घबराता है, भयभीत होता है। किन्तु जो साहसी होते हैं, वे मृत्यु की आंधियों में कभी नहीं डिगते, वे हिमालय की तरह अटल रहते हैं। दुर्गादास मृत्यु की भयंकर विभीषिका से जरा भी नहीं घबराया। उसने आवाज दी—"बेगम साहिबा! यह दुर्गादास तुम्हारा प्रस्ताव सुन लेने के बाद ही कुछ जवाब दे सकेगा।" बेगम ने हँसी के फव्वारे छोड़ते हुए कहा—"और कुछ बात नहीं है दुर्गादास! मैं तुम्हारी खूबसूरती और बहादुरी पर प्रसन्न हूँ। मेरा एक छोटा-सा प्रस्ताव यह है कि तुम मुझे अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर लो, मैं तुम्हें अपना पति मान लेती हूँ। बादशाह की तो तुम चिन्ता ही न करो। उसे तो आज ही मौत के घाट उतार दिया जायगा। यह तो मेरे बाएँ हाथ का खेल है।" दुर्गादास क्षण भर के लिए असमंजस में पड़ गया। सोचा—"नीति क्या कहती है? मेरा धर्म क्या कहता है? क्या मैं मृत्यु के डर से सुन्दरी का प्रस्ताव स्वीकार कर लूं? अन्दर की आवाज आई—'नहीं, कभी नहीं ऐसा कभी नहीं हो सकता। जो इन्सान धर्म को छोड़ देता है उसे धर्म भी छोड़ देता है।

"जो दृढ़ राखे धर्म को तिहि राखे करतार।
जो [illegible] धर्म को, वह डूबे काली धार॥"

बेगम तो मेरी माता के समान है। नीतिकार ने कहा है—

राजपत्नी गुरुपत्नी मित्रपत्नी तथैव च।
पत्नीमाता स्वमाता च पञ्चैते मातरः स्मृताः॥

[illegible]

[illegible]

"तलवार खिंच जाती है, वार की तैयारी होती है, इतने में एक आवाज आई—"ठहरो, कासमखान, ठहरो, खबरदार जो तलवार आगे बढ़ा दी।" अरे! यह कौन ? सिपहसालार, जो बादशाह का नौकर था, उसने तलवार हाथ से छीन कर दूर फेंक दी। तलवार के दो टुकड़े हो गए। उसने कहा—"दुर्गादास! तुम फरिश्ते हो तुम देवता हो, तुममें सच्ची इन्सानियत है, मानवता है, संयम की ज्योति है।" गुल चौंकी। बोली—"सिपहसालार, तुम यहाँ कैसे ?" सिपहसालार ने कहा—"पैगम्बर को सिर झुकाने के लिए।" गुलेनार बोली—"इतनी गुस्ताखी ? इतनी बदतमीजी, इस जबान सँभाल कर बोलो, किससे बात कर रहे हो, कुछ होश भी है ?" सिपहसालार— "हाँ, एक व्यभिचारिणी औरत से। क्या कह रही हो, तुम्हें शर्म नहीं आती ?" उस जंजीरें तोड़ दी और कहा—"चले जाओ, भारत के देवता! इन्द्रियों के स्वामी! यहाँ से।"

भोग के प्रति दुर्गादास का विकर्षण देख कर एक कवि की स्वरतन्त्री झनझना उठी—

"जननी सुत ऐसो जने, जैसो दुर्गादास।
बाँधी मुण्डासा राखियो, बिन खम्भे आकाश।"

संयम जीवन को महान् बनाता है। जीवन की परिभाषा करते हुए आचार्य ने कहा—"उस व्यक्ति का सच्चा जीवन है, जो विकारों से युद्ध करता है, शेर की तरह गरजता हुआ, अन्याय, अत्याचार और भ्रष्टाचार से संघर्ष करता है। गजराज की तरह झूमता हुआ, पापाचार को परास्त करता है।" जिन्दगी जीने का अर्थ है— वासनाओं से जूझना। एक क्षण भी जीओ, किन्तु जाज्वल्यमान दीपक की तरह प्रका करते हुए जीओ। अधजले कंडे की तरह विकारों का, वासनाओं का धुआँ छोड़ते हु सौ वर्ष तक भी जिन्दे रहे तो उसका कुछ भी मूल्य नहीं है। रथनेमि की अभ्यर्थ पर, वासनामय जीवन के आमन्त्रण पर, संयम की स्रोतस्विनी में स्नान करने वा पवित्र महासती राजीमती ने गर्जते हुए कहा था—

"सेय ते मरणं भवे"

'असंयमी जीवन का आलिंगन करने की अपेक्षा मृत्यु का आलिंगन तुम्हारे लि श्रेयस्कर है।' असंयमी जीवन जीना मृत्यु जैसा है, सुवासरहित पुष्प जैसा है, तेलर [illegible] जैसा है, प्राणरहित शरीर जैसा है, पतवारविहीन नौका जैसा है, जो चारों से टकराता रहता है।

संयम जीवन का आन्तरिक सौन्दर्य है। जिसके बिना बाह्य और [illegible] सौन्दर्य निरर्थक है। कागज के फूलों की तरह भले ही शृंगार प्रसाधन से [illegible] [illegible] किन्तु आन्तरिक सौन्दर्य के सन्दर्शन नहीं हो सकते। आज का [illegible] आन्तरिक सौन्दर्य को विस्मृत करके बाह्य सौन्दर्य के पीछे दीवाना बना हुआ है, "[illegible] सुन्दर [illegible] मन। [illegible] के सिर पे, चमेली का तेल।"

उन्नति को चरितार्थ करने जा रहा है। महाकवि रवीन्द्र ने अपने सौन्दर्य-बोध नामक अनुभवपूर्ण निबन्ध में लिखा है कि "सौन्दर्य का पूर्ण मात्रा में भोग करने के लिए संयम की आवश्यकता है।" जो सौन्दर्य का उपासक है वह संयम और नियम से जरूर आबद्ध होता है, उसके जीवन के कण-कण में संयम की ज्योति जगमगाती रहती है। यदि आप वस्तुतः सौन्दर्य का उपभोग करना चाहते हैं तो भोग-वासना का दमन कीजिए, संयम और नियम से जीवन को ओत-प्रोत कीजिए। भारतीय संस्कृति का आकर्षण इसी ओर रहा है। वह हमें सत्य और सुन्दर द्वारा शिवत्व की ओर प्रेरित करती है, चिरस्थायी जगत् की ओर आकृष्ट करती है, जहाँ पर मानव अन्तर्द्वन्द्व भूल जाता है, शान्ति के अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करने लगता है।

हाँ, तो! संयम के माधुर्य का रसास्वादन करना हो तो आप भी आज से ही तैयार हो जाइए। यह चीज केवल व्याख्यान श्रवण मात्र से नहीं मिलेगी। यह तो जीवन में आचरण करने से ही प्राप्त की जा सकती है। जितना-जितना आप संयम का आचरण जीवन में करेंगे, उतना-उतना माधुर्य आपको प्रत्यक्ष मिलता जायेगा। '**प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्**' के अनुसार यह तो प्रत्यक्ष अजमाने की वस्तु है। फिर तो अपने आप ही आपकी जिह्वा बोल उठेगी।

जीवन का अमृत

भारतीय संस्कृति अपने-आप में एक विराट् संस्कृति है, जो हजारों वर्षों से गंगा के विशाल प्रवाह की भाँति जन-जन के मन में प्रवाहित होती आ रही है, मन और मस्तिष्क का परिमार्जन करती हुई आ रही है, मानव-जाति के बिखरे हुए दिल और दिमागों को मिलाती हुई आ रही है। भारतीय संस्कृति समन्वय और संगम की संस्कृति है, मेल और मिलाप की संस्कृति है, मिलन और सम्मिलन की संस्कृति है। जो भी विचारधाराएँ आईं, उन्हें अपने-आप में मिलाते हुए निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते रहना ही इस संस्कृति का समुद्देश्य रहा है। न्याय, सांख्य, वैशेषिक, वेदान्त, मीमांसक, बौद्ध और जैन जितने भी दर्शन हैं, उनके आचार और विचारों में चाहे कितनी भी विभिन्नता रही हो किन्तु उस विभिन्नता में भी अभिन्नता रही हुई है, अनेकता में भी एकता रही हुई है, भेद में भी अभेद रहा हुआ है। यदि हम इन संस्कृतियों का, दर्शनों का गहराई से अध्ययन करते हैं तो दिन के उजाले की तरह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि सभी दार्शनिकों ने साधना के क्षेत्र में सत्य को प्रमुख स्थान दिया है, जीवन का अमृत बताया है।

सत्य अपने-आप में इतना महान् है कि उसे ठुकरा कर संसार में कोई भी वास्तविक रूप में जिन्दा नहीं रह सकता। संसार के बड़े-से-बड़े विचारक हों, दार्शनिक हों, कवि हों, कलाकार हों, तीर्थंकर हों, पैगम्बर हों या महात्मा हों, सभी सत्य की सेवा करके ही उच्च पद पर पहुँचे हैं। सत्य के बिना सारा संसार शून्य है। दूसरे शब्दों में कहें तो सत्य, वह आधारशिला है, जिस पर सारा संसार टिका हुआ है। संसार का सारा व्यापार, सारा व्यवहार और सारी नीतियाँ, सभी यम-नियम आदि सत्य के सहारे टिके हुए हैं। इसीलिए महान् आचार्य ने सत्य की महिमा को अभिव्यक्त करते हुए कहा है —

> सत्येन धार्यते पृथ्वी, सत्येन तपते रविः।
> सत्येन वाति वायुश्च, सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

कोई भी [illegible] कहता है, यह पृथ्वी शेषनाग के फन पर टिकी हुई है, कोई [illegible] कहता है, परन्तु तत्त्वदर्शी आचार्य कहते हैं, यह सारी पृथ्वी

लोग घबरा गए। वे कहने लगे—"भाई, यह तो आपत्तिकाल है। 'आपत्काले मर्यादा नास्ति' इतना सा जबान से कहने में तुम्हारा क्या लगता है? तुम अपने साथ हमारे प्राणों को भी संकट में क्यों डाल रहे हो? जरा सी जबान हिला दो न!" पर वह अर्हन्नक था। वह आत्मा की अमरता का सन्देश तीर्थंकर भगवान् की वाणी से सुन चुका था। 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि' का पाठ उसके रोम-रोम में रम गया था। जबान में से असत्य निकला कि प्राण निकलने के समान है, यह वह खूब अच्छी तरह जानता था। उसने साथियों को भी सत्य का महात्म्य बतलाया, स्वयं भी सत्य पर अटल रहा। देवता उसका बाल भी बाँका न कर सका। उलटे, उस सत्यधारी के चरणों का सेवक बनकर देवता हाथ जोड़े खड़ा है और वर माँगने को कहता है। पर उसे देवता के सहारे की जरूरत नहीं थी। सत्य के सहारे की जरूरत थी। सत्य की कसौटी हो गई। देवता प्रसन्न होकर जय-जयकार करता हुआ अपने स्थान पर लौट गया।

सत्य केवल वह नहीं है जो वाणी से ही बोला जाता है। सत्य वाणी से भी बोला जाता है, प्रकट किया जाता है, मन से भी सोचा जाता है और बुद्धि से भी विश्लेषण किया जाता है तथा आत्मा से आचरण भी किया जाता है। इसीलिए सत्य का लक्षण करते हुए भारतीय मनीषियों ने काफी दीर्घ दृष्टि से सोचा है। उन्होंने कहा—

'यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम।'

अर्थात्—'जो प्राणिमात्र के लिए अत्यन्त हितकर हो, वही सत्य मुझे मान्य है।'

सत्य की व्युत्पत्ति करते हुए उत्तराध्ययन सूत्र के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य शान्तिसूरि कहते हैं—

'सद्भ्यो हितं, सत्यम्'

अर्थात्—"जो प्राणियों के लिए हितकर हो, वह सत्य है।" यहाँ यह सोचना पड़ेगा कि मान लो, एक चोर यह कहे कि चोरी करना मेरे लिए हितकर है या शराबी कहे कि शराब पीना मेरे लिए हितकर है, तो उस समय सार्वकालिक और सार्वत्रिक दृष्टि की कसौटी पर उस हितकर को कसना पड़ेगा। 'चोरी करना हितकर है', यह बात व्यक्ति उस समय तक कहता है, जब तक वह पकड़ा नहीं जाता या उसे कोई मार नहीं पड़ती, किन्तु जब वह पकड़ा जाय या उसे मार पड़े तो वह शायद इस बात को बदल देगा अथवा जैसे उसने दूसरे के घर में चोरी की, वैसे ही उसके घर कोई दूसरा व्यक्ति चोरी करता तो वह कभी नहीं कहता कि 'चोरी करना हितकर है।' इससे सिद्ध हुआ कि चोरी करना सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टि से [illegible] (हितकर नहीं) है। इसी तरह शराब पीना भी हितकर होता तो सारी [illegible] के लिए सब समय और सभी जगह हितकर होता मगर अनुभव इससे विपरीत [illegible] शराब पीना सत्य (हित) नहीं है।

लेगी । क्या तुम्हारी भावी सतान अपना अधिकार छोड़ देगी ? क्यों राजकुमार ! क्या मैं ठीक नही कह रहा हूँ !" सुदास ने एक साँस मे यह सारी बात कह डाली ।

गांगेय कुमार ने कहा—"सुदास ! तुम्हारी बात सोलहो आने सच्ची है । लो, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि आज से मैं आजीवन ब्रह्मचारी रहूँगा । जिससे मेरे पिताजी को तथा माता सत्यवती के पुत्रो को किसी भी प्रकार का कष्ट नही होगा ।"

यह थी भीष्म प्रतिज्ञा ! सत्य की अटल प्रतिज्ञा ! जिसने गांगेयकुमार का नाम बदल कर 'भीष्म पितामह' के नाम से उन्हे लोक मे प्रसिद्ध किया ।

जहाँ सत्य होता है, वहाँ निर्भयता का सञ्चार होने लगता है । अर्थात् सत्य और निर्भयता दोनो भाई-बहिन जैसी है । ये दोनो साथ-साथ रहते है ।

महाभारत का युद्ध समाप्त हो गया था । केवल भीम के साथ दुर्योधन का गदायुद्ध शेष था । दुर्योधन आज तालाब के कमलो मे छिपा हुआ था । तालाब की पाल पर भीम-नकुल आदि घूम रहे थे । उनका मुख क्रोध से लाल हो रहा था । वे बोल उठे—"अरे ओ कुलसंहारक नराधम ! डरपोक, कायर, बुजदिल, चल आ मैदान मे क्यो छिपा है तालाब मे ! शर्म नही आती तुझे, इस तरह छिपते !" दुर्योधन चुपचाप यह सब सुनता रहा । आज उसका चेहरा मुरझाया हुआ था । सहस्ररश्मिसूर्य अस्ताचल पर पहुँच चुका था । दुर्योधन जब तालाब से बाहर निकला । सहसा उसके अन्तर्मन मे प्रेरणा हुई—"यदि तू अपने प्राण बचाना चाहता है तो युधिष्ठिर के पास जा, वहाँ तुझे सच्ची सलाह मिलेगी ।" दुर्योधन के कदम धर्मराज के शिविर की ओर बढे धर्मराज ने उसे सत्कार दिया । पूछा—"कहो भैया, दुर्योधन, कैसे आए ? आज तो बहुत दिनो मे मिले हो । यदि तुम आज भी सुलह करना चाहते हो तो मैं उसी शर्त पर, जो श्री कृष्ण ने तुम्हारे से की थी, करने को तैयार हूँ ।" दुर्योधन बोल उठा—"भैया साहब, मैं आज तुमसे सुलह करने नही आया हूँ किन्तु सलाह लेने आया हूँ । बतलाओ, कल का युद्ध मेरा भीम के साथ निश्चित हो गया है, यह तो तुम्हे मालुम है न ? मैं उसी के लिए तुम से सलाह लेने आया हूँ कि उस युद्ध मे ऐसा कौनसा उपाय है, जिसके कारण भीम मेरा बाल भी बाँका न कर सके ।"

बन्धुओ, क्या एक चिर शत्रु, जन-जन संहारकारी को, अन्यायी को युधिष्ठिर सच्ची सलाह दे दे ? आज का कोई राजनीतिज्ञ होता तो ऐसा छकाता कि छठी का दूध याद आ जाता । पर वह युधिष्ठिर था, सत्यवादी था, राजनीति मे भी सत्य, न्याय को सुरक्षित रखकर चलने वाला था । उन्होने विचार किया 'सत्ये नास्ति भय क्वचित्' सत्य को कही भी डर नही है, दुर्योधन मेरे पास विश्वास लेकर आया है, उसे सत्य सलाह ही देनी चाहिए ।

युधिष्ठिर ने कहा—'भैया ! दुर्योधन ! उपाय तो तुम्हारे घर मे ही है । तुम [illegible] के पास चले जाओ । वह पूर्ण पतिव्रता है । यदि वह तुम्हे प्रेमभरी [illegible] मे [illegible] सकते हो । फिर तुम्हारे शरीर का [illegible]

तराजू के एक पलडे मे सहस्र अश्वमेध यज्ञ का फल रखा जाय और दूसरे पलडे मे अकेले सत्य को तो भी सहस्रो अश्वमेध यज्ञो से सत्य वजनदार होगा, वजनदार होगा।

इसीलिए सत्य के द्रष्टाओ ने, ऋषि-मुनियो ने, तीर्थंकरो ने सत्य की खोज के लिए जगलो-जगलो की खाक छानी, सत्य की प्राप्ति के लिए नगे रहे, भूखे रहे, नाना कष्ट सहे, और अन्त मे जो सत्य मिला उस पर दृढ रहे।

हाँ, यह हो सकता है कि एक को जो सत्य और परिपूर्ण सत्य दिखता हो, दूसरे की दृष्टि मे उसके सिवाय अन्य कोई सत्य नजर आता हो, परन्तु, देश, काल, और पात्र के भेद से सत्य मे भेद होने पर भी उस सत्य को असत्य नही कहा जा सकता। पूर्ण सत्य की उपलब्धि तो महाकठिन है ही। अनेकान्तवाद के द्वारा विभिन्न पहलुओ को, सत्य के अशो को जहाँ से जितना ग्रहण किया जा सके, उतना-उतना सत्यग्राही पुरुष ग्रहण करता है। वह अमुक धर्मग्रन्थो, अमुक पोथियो या अमुक सम्प्रदायो मे ही सत्य को परिसमाप्त नही कर देता। विभिन्न देश, काल और परिस्थितियो मे खोजे हुए विभिन्न सत्यो को वह हृदयगम करता रहता है और सत्य की उपासना द्वारा अपनी आत्मा को समृद्ध बनाता रहता है। ज्यो-ज्यो जिस पुरुष को सत्य की अधिकाधिक उपलब्धि होती जाती है, त्यो-त्यो वह रागद्वेष से दूर-दूर होता जाता है। उस सत्य को जीवन मे आचरण करने, जनसमाज मे उसका प्रचार करने और विचार-प्रचार द्वारा जनसमुदाय को सत्य के अधिक निकट ले जाने का प्रयत्न करता रहता है। यही सत्य की उपासना का सही तरीका है, जिसके द्वारा जीवन अमरता की ओर बढता जाता है।

आप भी सत्य की पगडण्डी पर चले तो आपका जीवन अमृतमय बन जाय, शान्तिमय बन जाय और आनन्दमय बन जाय। भारतीय सस्कृति तो इसी सत्य की उपासना द्वारा विश्व को शान्ति का सन्देश देती आ रही है।

आशा है, आप सत्यामृत का पान करके जीवन को सच्चिदानन्दमय बनाएँगे।

के लिए खड़ा कर लेता है, इतने में ही हम उसे मानव-जीवन कह देंगे ? क्या मानव-जीवन का मूल्यांकन हम इसी आधार पर करेंगे ? क्या इन्सान की जिन्दगी के नाप-तौल का दारोमदार इसी पर है ? सचमुच, इन्सान की जिन्दगी के नाप-तौल का दारोमदार यह नहीं है कि वह दूसरे प्राणियों की तरह चाहे जैसे भी केवल जिन्दा रहे, या जिन्दा रहने की इच्छा करे। अधजले कण्डों की तरह विकारों का, वासनाओं का धुआं छोड़ते हुए सौ वर्ष तक भी जीता रहे तो उस मानव-जीवन का कोई मूल्य नहीं है। एक नीतिकार ने कहा है—

"काकोऽपि जीवति चिरं च बलिं च भुङ्क्ते।"

अर्थात्—"कौआ भी चिरकाल तक जिन्दा रहता है और बलि की जाने वाली चीजों को खाकर पेट भरता रहता है।"

जिन्दगी तो कौओं, कुत्तों, चीलों, गिद्धों, बिल्लियों के पास भी है, वे भी अपनी जिन्दगी से उतना ही प्यार करते हैं, जितना एक मनुष्य करता है, पूर्वोक्त कार्यों की समानता भी उनमें पायी जाती है। कौआ, कुत्ता आदि पशु-पक्षी भी अपनी जिन्दगी चलाने के लिए इधर-उधर आहार की खोज में भटकते रहते हैं, वे देखते रहते हैं कि कहाँ झूठन पड़ी है ? चील आकाश में मंडराती रहती है कि कहाँ मुर्दा पड़ा है ? गिद्ध भी लाश की तलाश में मारा-मारा फिरता है। असुरों, दैत्यों और राक्षसों को भी जिन्दगी मिली है, पर वे दूसरों की जिन्दगी के साथ खिलवाड़ करते हुए जिन्दा रहते हैं, दूसरों के खून पर उनकी जिन्दगी पलती है। ऐसी अधम जिन्दगी का क्या मूल्य है, और पशुपक्षियों की तरह जिन्दगी बिता देने में ही वास्तविक मानव-जीवन नहीं बनता है और न उसे असली मानव-जीवन कहा भी जा सकता है।

मानव-जीवन क्या है ? यह प्रश्न भी भारतीय मनीषियों ने विचार के सान पर चढ़ा कर परखा है। मानव-जीवन की परिभाषा करते हुए एक आचार्य ने कहा —

'किं जीवनं ? दोषविवर्जितं यत्'

सच्चा मानव-जीवन क्या है ? इसके उत्तर में उन्होंने खाना-पीना चलना-फिरना, जिन्दगी टिकाये रखना, श्वास लेना आदि नहीं कह कर यही कहा कि जो जीवन दोषों से, विकारों से रहित होकर जिया जाता है, वही वास्तविक मानव-जीवन है। उस व्यक्ति का जीवन सच्चा जीवन है, जो विकारों से जूझता हुआ जीता है, शेर की तरह निर्भयतापूर्वक गरजता हुआ, अन्याय, अत्याचार, अनाचार और भ्रष्टाचार से संघर्ष करता हुआ चलता है, जो गजराज की तरह मस्ती से झूमता हुआ, [illegible] आदि पापों को परास्त करता हुआ, [illegible] है।

[illegible] जिन्दगी [illegible] का अर्थ हुआ विकारों से, वासनाओं से जूझना। [illegible]

कला की एक निश्चित परिभाषा तो आज तक नहीं हो पाई, फिर कला की जीवन में अनिवार्यता के विषय में किसी के दो मत नहीं। वैसे तो कला क्षेत्र असीम है, उसे किसी एक व्यक्तिकृत व्याख्या या वस्तु में सीमित नहीं किया जा सकता। कला शब्द का इन दिनों कुछ ऐसा प्रचार हुआ है कि हर चीज कला बनी हुई है। भोजन बनाना कला, मकान का नक्शा बनाना भी कला। जूतियों की मखमल पर कसीदा निकालना भी कला, बूट पर पालिश करना भी कला, पीतल के बर्तनों पर नक्काशी करना भी कला, अखबार में कहानी के चित्र बनाना भी कला, दैनिक पत्र में व्यंग्य चित्र बनाना भी कला, लेख के शीर्षक लिखना और लेख लिखना भी कला, चित्र बनाना भी कला, कोई भी काम किसी को पसन्द आ जाए जिसमें कुछ भी स्वार्थ-साधन, अर्थोपार्जन या मनोरंजन हो वह चीज आज कला शब्द से व्यवहृत होने लगी है। यहाँ तक कि चोरी करना भी, जेब काटना भी कला है, काला बाजार करना भी कला और शोषण के नये-नये ढंग अपनाना, विज्ञापन द्वारा अपनी चीज अधिक खपाना और बढ़ा-चढ़ाकर तारीफ करना भी कला हो गई है और तो और गाना तो कला था ही, हँसना, रोना और सोना आदि भी कला हो गए है। मतलब यह कि भाषा में जितने भी क्रियापद हैं, उन सबके पीछे कला का पुछल्ला लग गया है, जिससे सामान्य आदमी घपले में पड़ जाता है कि वास्तव में कला क्या वस्तु है? पश्चिमी कला-मर्मज्ञों ने यूनानी सभ्यता के विकासकाल से लेकर अब 'कला की परख' पर बहुत कुछ लिखा है। यूनानी आचार्य अफलातून और उनके शि- अरस्तू से लेकर आधुनिक काल के काण्ट, शेलिंग, हेगेल, शोपेनहावर, वाल्टेयर, हर्बर्ट स्पें- और जान रस्किन कला के विभिन्न व्याख्याकारों में से हुए हैं। अपने सर्वोत्कृष्ट उपन्यास 'ज्याँ क्रिस्टोफीन' की भूमिका में रोम्याँ रोलाँ ने जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण को व्य- क्त करते हुए कहा है—'नियन्त्रित, संयमित और मर्यादित जीवन कला है।' पाणिनीय व्याकरण के अनुसार कल् धातु से कला शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ होता है—कल्पना करना, रचना करना। क्षेमराज कृत शिवसूत्र विमर्शिनी में कला के स्व- रूप का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—'**कलयति, स्वरूप आवेशयति, वस्तूनि वा तत्र तत्र प्रमातरि सा कला**' अर्थात् अपने नये-नये रूप को वस्तु में या प्रमाता में प्रवेश करने वाली कला है।

जगत में कोई भी वस्तु न सुन्दर है और न असुन्दर। दोनों निरीक्षक की रसानुभूति पर अवलम्बित है। प्रत्येक वस्तु को भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखने पर वह भिन्न-भिन्न रूप में दृष्टिगोचर होती है। एक कामिनी का शरीर है, एक कामुक व्यक्ति काम-दृष्टि से देखेगा, उसका भाई या पुत्र उ- या माता की दृष्टि से देखेगा, एक निस्पृह साधु उसे मातृभावना से निहारे- एक सिंह या कुत्ता उसका मांस नोचने और हड्डियाँ चबाने की दृष्टि देखेगा। इस प्रकार व्यक्ति के दृष्टिकोण की भिन्नता से एक ही वस्तु एक की दृष्टि [illegible] की दृष्टि से भिन्न है। अब जीवन के कलाकार की दृष्टि से

विश्रान्तिर्यस्य सयोगे सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला॥

अर्थात्—"जिसके सयोग मे मानव-जीवन मे विश्रान्ति, थकावट या अकर्मण्यता पैदा होती हो, जीवन मे स्थिरता आती हो, विचारो का प्रवाह न बहता हो, वह कला कला नही है, कलाभास है । जिसमे आत्मा परम आनन्द मे लीन हो जाता है, वही वास्तविक कला है ।"

पाश्चात्य कलाविदो ने आज कला के प्रयोजन के बारे मे एक नया नारा लगाना शुरू कर दिया है, 'कला कला के लिए' (Art for art's sake)। सभव है, उन्होने कला का दुरुपयोग होते देखकर ही ऐसा कहना शुरू कर दिया हो, परन्तु भारतीय मनीषियो ने कला को प्रारम्भ से ही सत्य की अभिव्यक्ति के लिए माना है। जहाँ कला का उपयोग स्वार्थ-साधना के लिए विलासिता के लिए, या धन के लिए किया जाता है, वहाँ सत्य मर जाता है, वहाँ किसी भी सत्य का आविर्भाव नही होता है। इसलिए मै तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि कला का आविर्भाव जब आत्मा से या अन्तर से होता है तो उसका उपयोग सत्य के लिए, किसी सिद्धान्त के लिए, श्रेय के लिए या कल्याण के लिए होना चाहिए, कला मे बाह्य सौन्दर्य मुख्य वस्तु नही है जहाँ सत्य और शिव (कल्याण) होता है, वहाँ सौन्दर्य—आन्तरिक सौन्दर्य तो आ ही जाता है।

एक नारी सौन्दर्य प्रसाधन के लिए कला का उपयोग करती है, वह बाह्य रूप मे बहुत खूबसूरत लगती है, किन्तु अगर उसमे आन्तरिक सौन्दर्य नही है, वह अपने सम्पर्क मे आने वालो के साथ मानवता का, सहानुभूति का व्यवहार नही करती है, अपने बच्चो और घरवालो पर क्रोध बरसाती है, अपने अभिमान मे आकर दूसरो को कुछ नही समझती है, तो वह उसकी कला का दुरुपयोग है, उसकी यह कला सत्य के लिए नही है, उस कला मे शिवत्व नही है, वह कला वास्तविक कला नही कला का नाम है।

भारतीय संस्कृति के महामनीषी भर्तृहरि ने इसी बात को द्योतित करने के लिए कहा है—

"साहित्य-सगीत-कलाविहीन
साक्षात् पशु पुच्छविषाणहीन ।"

अर्थात्—"जिस जीवन मे साहित्य की साधना—हितकर सत्य प्रधान साधना नही है, सगीत की उपासना नही, यानी शिवत्व की निष्ठा नही और कला की आराधना नही वह जीवन पशु का जीवन है, वह मानव का जीवन नही, भले ही मानवाकृति में वह मनुष्य हो किन्तु है वह पूँछ और सीग से रहित पशु तुल्य मानव ही।"

हाँ, तो मानव-जीवन मे जब सत्य, शिव और सुन्दर को लेकर कला आती है तो वह मानव को पशुत्व से ऊपर उठा कर मानवत्व की कोटि मे ले जाती है। वह

का उपदेश दिया था, कलाएं गिनाई थी। उन्होंने जो भी कलाएं या विद्याएं सिखा उसके पीछे मानवता लाने का सन्देश छिपा था, उसके पीछे मनुष्यों में पारस्परिक सहयोग और सेवा-भावनाओं की प्रेरणाएं अन्तर्निहित थी। उन कलाओं में जीवन का महान् सत्य गर्भित था। इसीलिए उन्होंने उस युग की मानव-जाति को कलाएं सिखा कर, उनका उद्देश्य भी साथ-साथ बता दिया। फलितार्थ यह निकला कि कला जो रूप सत्य के लिए, सेवा के लिए, किसी सिद्धान्त या ध्येय के लिए हमारे सामने मंगल मय बनकर आता है, वही कला जीवन में आनन्ददायिनी है, वास्तविक सुन्दरता से ओतप्रोत है। कला का जो रूप मानव की राक्षसी वृत्तियों का उपशमन नहीं कर सकता, मानव के क्षुद्र द्वैतभाव और अहं को नष्ट नहीं कर सकता, विश्व की सम रसता को परखने की दिव्य-दृष्टि नहीं दे सकता, अपितु जीवन में कहीं भी विकृति कुरूपता को उत्पन्न करता है, वह कला नहीं, कला की प्रेतछाया हो सकती है। इसलिए कला-परीक्षा का सबसे सुन्दर मापकयन्त्र उसके द्वारा उत्पन्न होने वाले सत्प्रभाव की परम्परा, जीवनहित का प्रकटीकरण है।

हाँ तो, अब आप भली-भाँति समझ गये होंगे कि 'जीवन' और 'कला' क्या है? दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध कैसा है? कब कला असली कला कहलाती है और कब कला की विकृति? कला का लक्ष्य, उद्देश्य या प्रयोजन क्या होना चाहिए? मैं समझता हूँ, इतना समझ लेने के बाद मानव-जीवन के जीने की कला को भी आप सरलता से समझ सकेंगे।

प्रत्येक व्यक्ति जिन्दा रहना चाहता है, पर जिन्दा रहना भी तो एक कला है। जिन्दा रहने का मतलब किसी भी तरह से, येन-केन-प्रकारेण, गलत-सलत ढंग से अपना अस्तित्व बनाए रखना ही नहीं है। अस्तित्व तो पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े, कुत्ते बिल्ली सभी बनाए रखना चाहते हैं, शेर, चीता, भालू आदि क्रूर जानवर भी तो अपना अस्तित्व बनाए रखना चाहते हैं, अगर आप मनुष्य के रूप में अपना अस्तित्व बनाए रखना चाहते हैं तो आपको जीने की कला जाननी होगी। जीने को तो सारी दुनिया जीती है, पर जीने की कला को विरले ही जान पाते हैं। जिसे अच्छी तरह से जीना आ गया, वह अपनी जिन्दगी को भी आराम से, सुख-शान्ति से बिताता है और दूसरों के लिए भी अपने प्रभा-पूर्ण जीवन का नमूना छोड़ जाता है। अगर किसी के पैर में कांटा लग जाता है, या आंख में रजकण पड़ जाता है, तो उसे असह्य हो जाता है पहने हुए कपड़े में या दांत में कोई फांस चुभ जाय तो वह भी सहन नहीं होती है इसी प्रकार प्रत्येक मानव को अपना कलाविहीन जीवन सह्य नहीं होना चाहिए। जो जीने की कला जान लेता है, वह व्यक्ति अपने जीवन की प्रत्येक छोटी से [illegible] [illegible] समय सावधानी रखता है, वह अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति, क्रिया या हल [illegible] [illegible] के लिए, सेवा के लिए और मंगल के लिए करता [illegible] [illegible] हुए, दूसरों को जिलाते हुए जीना है, वह [illegible] [illegible] दूसरा का अहित होता हो, दूसरे दुःख में पड़ते

"अर्थात्—"हे जीवन कला के साधक ! तुम्हे यतना सावधानी या विवेकपूर्वक चलना चाहिए, यत्नपूर्वक खड़ा होना, बैठना, सोना, खाना या बोलना चाहिए, जिससे कि जीने की कला मे बाधक पापकर्म न हो सके।"

यह है जीने की कला का दर्शन ! अगर मनुष्य इसी प्रकार जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति से पहले अपना विवेकमय चिन्तन रखे, अपनी सत्य, शिव, सुन्दर की क्षेममयी भावना रखे तो उसका जीवन कलामय होते देर न लगे।

कर्मयोगी श्रीकृष्ण से अर्जुन जैसे जिज्ञासु ने भी इसी भांति जीवन कला के मर्मज्ञ स्थितप्रज्ञ की चर्या के बारे मे पूछा है —

"स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य, केशव !
स्थितधी किं प्रभाषेत, किमासीत व्रजेत किम् ?"

अर्थात्—"हे जीवनकलाकोविद श्रीकृष्ण ! जीवनकला मर्मज्ञ स्थितप्रज्ञ की क्या परिभाषा है, उस समाधिस्थ की पहिचान क्या है ? वह स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, कैसे चलता है ?"

और इसका मर्मस्पर्शी उत्तर श्रीकृष्ण ने अपनी कमनीय वाणी मे लगभग १८ श्लोको मे विस्तार से दिया है। सचमुच जीवनकलामर्मज्ञ बनने के लिए, उन सब श्लोको पर विवेकपूर्वक चिन्तन-मनन करने और तदनुसार जीवनचर्या रखने मे जीने की कला हस्तगत हो जाती है।

जीने की कला का मर्मज्ञ जब जीवन की किसी भी क्रिया को करेगा तो वह अपने आसपास की दुनिया को भी देखेगा, वह यह सोचेगा कि मेरी इस प्रवृत्ति से, क्रिया या हरकत मे किसी भी प्राणी को दुख तो नही होगा, किसी का अहित तो न होगा, किसी की जिन्दगी कुचली तो नही जायगी ?

एक मोटर ड्राइवर है, वह बाहोश होकर मोटर चला रहा है, अपने दायें-बायें, आगे-पीछे चलने वाले व्यक्तियों को भी देखता है, वस्तुओ को भी देखता है और बड़ी सावधानी से मोटर चला रहा है, कोई भी व्यक्ति कुचल न जाय, मोटर को भी किसी वस्तु से टक्कर लगकर चोट न पहुचे, इस आशय से जहां खतरा देखता है, ब्रेक लगा कर मोटर रोक लेता है, जहां किसी भी व्यक्ति को मोटर के आगे देखता है तो हॉर्न बजाकर उसे सावधान कर देता है ताकि वह मोटर की झपट मे न आ जाय। इस प्रकार मोटर चलाने वाला ड्राइवर सही सलामत अपने गन्तव्य स्थान पर पहुंच जाता है, उसे भी आनन्द होता है और मोटर के मालिक को भी।

यह एक नमूना है अपने आप मे। और इसी प्रकार हमारी जिन्दगी भी एक गाड़ी है जो निष्क्रिय गैरेज मे रख देने के लिए नहीं है, उसे आवश्यक हरकत तो करनी [illegible], और विविध प्रवृत्तियां किये बिना कोई चारा नहीं है। जीवन रूपी गाड़ी [illegible] है। अगर हम अपनी जीवन रूपी गाड़ी चलाते समय बाहोश होकर [illegible] दायें-बायें, आसपास, आगे-पीछे आने जाने वाले जीवनो को भी देखते हैं

रत्नभण्डार देखकर चकित भी हुए, चिन्तित भी। महात्मा ने राजा से पूछा—"राजन्! सबसे बड़ा और सबसे अधिक मूल्यवान, पाषाण इनमे से कौन सा है, बतलाइये तो?" राजा ने एक मुट्ठी भर का जाज्वल्यमान हीरा दिखाया। महात्मा किञ्चित् मुस्कराए और बोले—"महाराज, मैने इससे भी बड़े और इससे भी अधिक मूल्यवान पाषाण आपके राज्य मे देखे है। आपको उनका पता ही नही।" राजा लालायित होकर उसे देखने के लिए चले। राजा आश्चर्य मे भ्रमित और दर्शक विनोद मे चकित थे। जब महात्मा ने एक जीर्णकाय, मलिन-वसना बुढिया की झोंपड़ी मे जाकर उसकी चक्की के दो पाटो को दिखाकर कहा—"आपके राज्य मे बहुमूल्य पाषाण ये है। प्रजा से कहे कि इन रत्नो का प्रति दिन दर्शन करे।" राजा मौन खड़े रह गये। क्या समझे और क्या कहे? इसी पेशोपेश मे था कि महात्मा वाणी मे मधुरता भर कर बोले—"राजन्! इस निःसहाय बुढिया की जीविका का एक मात्र साधन ये चक्की के पाट है जिनके सहारे यह दूसरो का आटा पीसती है और अपने प्राणो की रक्षा करती है। आपके हीरे-पन्ने क्या किसी के प्राण बचाते है? इनसे कुछ आय होती है या इनकी रक्षा पर उलटा व्यय होता है? पत्थर ये भी है, किन्तु मूल्यवान् वह, जो उपयोग मे आए, जिससे किसी का हित हो। कोरा सौन्दर्य, कोरी शान, किस काम की?" राजा की विवेक-दृष्टि जागृत हो गई।

हाँ, तो केवल सौन्दर्य की अभिव्यक्ति ही जहाँ हो, सत्य और शिवत्व न हो, सेवाभावना और सिद्धान्त-रक्षा का प्रश्न गौण हो, वह जीवन बाह्य सौन्दर्य से युक्त होते हुए भी कलामय नही माना जा सकता। कलामय जीवन वही है, जहाँ सत्य, शिव मुख्य हो, जनहित और सिद्धान्तरक्षा का प्रश्न सामने चमक रहा हो, भले ही वह शरीर से कुरूप हो, बेडौल हो।

राजा जनक की राज सभा मे अष्टावक्र अपने मातामह को मुक्त कराने और राजा के गूढ प्रश्न का उत्तर देने के लिए पहुँचे। वे ज्यो ही सभा मे प्रविष्ट हुए, उन्हे देखकर समस्त विद्वान हँसने लगे, क्योकि अष्टावक्र कुरूप थे, बेडौल थे, आठ जगह से बाँके थे। तपस्वी अष्टावक्र भी हँसने लगे। विद्वानो ने पूछा—"आप क्यो हँसे?" उन्होने मुस्कराकर जवाब दिया "मै अपनी भूल पर हँसा हूँ। मै समझता था कि राजा जनक की सभा मे बड़े-बड़े अध्यात्मवादी विद्वान होगे, पर यहाँ आकर मुझे इनकी समझ भूतभरी दिखाई दी, क्योकि मैने देखा कि यहा तो चमड़े का स्वरूप देखा-परखा जाता है, मानो चमारो की सभा हो, आत्मा का सौन्दर्य नही देखा जाता। जीवन की कला का मापदण्ड आपके यहा केवल बाह्य सौन्दर्य मे [illegible] है।

इसलिए अष्टावक्रमुनि की वाणी मे भारतीय संस्कृति की आत्मा बोल रही है। [illegible] कला के पारखी थे। जीवन मे आन्तरिक सौन्दर्य का [illegible]।

उपेक्षा कर सकता है ? क्या ये सीधे सादे वस्त्र और पीतल के कडे माता के अनादर की मुँह बोलती कहानी नही है ? किन्तु वार्तालाप करने से उसे अपनी धारणा मिथ्या प्रतीत हुई, माँ और पुत्र मे अगाध स्नेह के दर्शन हुए । तथापि आगन्तुक ने अपने मन के अविश्वास को दूर करने के लिए अत्यन्त नम्रता से पूछा—"माताजी, आपके शरीर पर साधारण वस्त्र और पीतल के कडे देख मुझे आश्चर्य हो रहा है कि क्या यह आपके लिए, बगाल के लिए और सतीश बाबू के लिए, लज्जा की बात नही है ?" सतीशबाबू की माँ बोल उठी—"भैया, तुम्हारा यह समझना भूल भरा है । हीरे, पन्ना, माणक, मोती के आभूषणो से आवेष्टित होकर जन-मन मे ईर्ष्या की भावना भडकाने मे मैं अपना और बगाल व सतीश का गौरव अनुभव नही करती । मनुष्य की सुन्दरता वस्त्रालकारो मे नही है, अपितु त्याग मे, उदारता मे, सात्त्विकता मे है, कलामय जीवन बिताने मे है । तुम्हे यह जानकर प्रसन्नता होनी चाहिए कि अभी कुछ समय पूर्व बगाल के दुष्काल ने जन-जीवन मे एक विषमता पैदा करदी थी, मानव अन्न के दाने-दाने के लिये तरस रहा था, छटपटा रहा था, उस समय सतीश ने जो उदारता दिखलाई, और मैंने अपने हाथो से जो गरीब जनता की सहायता की, वही मेरा असली गौरव है और मैं समझती हूँ कि सतीश और बगाल का गौरव भी उसी मे सन्निहित है । वस्त्रालकारो से सुसज्जित होकर वैभव का प्रदर्शन करने मे नही, कलाविहीन जीवन बिताने मे नही । सादगी और सयम से जीवन बिताना ही तो सच्चे दार्शनिक और कलाकार का लक्षण है ?"

यह है जीने की कला का रहस्य ! जहाँ जीने की कला होती है, वहा भोग पर नियत्रण लग जाता है, सयम और विवेक के पवित्र तटो के बीच मे से होकर जीवन-सरिता बहने लगती है, वहा नियमितता, व्यवस्थितता और उपयोगिता की त्रिवेणी मे स्नान करने से जीवन पवित्र बन जाता है, आनन्दमय और स्फूर्तिमय बन जाता है ।

जीवन के महान कलाकार भगवान महावीर ने गृहस्थो के लिए तो इस प्रकार का एक व्रत ही बता दिया है, जिसके द्वारा गृहस्थ-जीवन सुनियन्त्रित, सयमित और मर्यादित होकर कलामय बन जाता है । उसका नाम है—'उपभोग परिभोग परिमाण व्रत' । इस व्रत मे जीने की किसी आवश्यक वस्तु के उपयोग से इन्कार नही किया गया है, प्रतिबन्ध नही लगाया गया है, अपितु मर्यादा मे रहकर, विवेकदृष्टिपूर्वक उपभोग करना बताया गया है । मतलब यह कि उपभोग करने की नही उपयोग करने की बात बताई गई है । उपभोग जब नियत्रित, सयमित और मर्यादित हो जाता है, विवेकबुद्धि से निर्णीत हो जाता है, तब वह उपयोग बन जाता है और उपयोग ही आगम मनीषियों के लिए—योग ही जीने की कला का प्रधान अग है, मुख्य लक्षण है । तत्त्वार्थसूत्रकारो ने जीवन जीने वाले का मुख्य लक्षण 'उपयोग' बताया है—'उपयोगो लक्षणम्', उपयोग जीव का लक्षण है, उपभोग नही । जहाँ उपयोग होता है वहाँ विवेकबुद्धि से जीवन जीने मे साधक-बाधक तत्त्वो का निर्णय करना पडता है, देश-काल को देखकर, अपनी शक्ति और क्षमता के अनुसार वस्तुओं का उपयोग

'पोसहस्स सम्म अणणुपालणयाए,
सामाइयस्स सम्म अणणुपालणयाए,
सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणयाए'

इसी प्रकार उस साधना में प्रमार्जन, प्रतिलेखन का भी विधान है उसमें यह भी बताया गया है कि प्रमार्जन या प्रतिलेखन तो किया हो, लेकिन सम्यक् प्रकार से न किया हो तो अतिचार है।

हाँ, तो मैं आपसे कह रहा था कि जीवन में सम्यक् प्रकार से जीने के लिए कोई भी प्रवृत्ति या कार्य अपने आप में बुरा नहीं है, बशर्ते कि उस प्रवृत्ति या कार्य के पीछे कोई सत्य हो, हितकारिता हो, उसे सम्यक् प्रकार से दिलचस्पी से विवेकपूर्वक किया गया हो।

इंग्लैण्ड के 'हाउस ऑफ कॉमन्स' में कभी-कभी बड़ी गरमागर्म चर्चा चल पड़ती है, जिससे सदस्यों में काफी चख-चख हो जाया करती है। एक समय एक धनाढ्य व्यक्ति ने अभिमान से गर्जते हुए अपने प्रतिपक्षी से कहा—"क्या वह दिन तुम भूल गये, जिस दिन तुम मेरे पिताजी के बूटों पर पालिश करने का काम किया करते थे? आज मेरे सामने ऐंठ रहे हो?" प्रतिपक्षी सदस्य निर्धन कुटुम्ब का होते हुए भी प्रारम्भ से ही बड़ा कर्त्तव्यनिष्ठ, स्वावलम्बी और जीवनकलामर्मज्ञ रहा था। उसने मुस्कराते हुए उपस्थित सदस्यों के सामने कहा—"आपका कथन यथार्थ है, किन्तु बतलाइए, क्या मैं अच्छी तरह से पालिश नहीं करता था?" कोई भी कार्य, जिसके पीछे एक सत्य हो, सेवा-भावना हो, अपने आप में भला या बुरा नहीं है, छोटा या बड़ा नहीं है। किसी भी कार्य को करने में शर्म का अनुभव नहीं होना चाहिए। शर्म तभी अनुभव होनी चाहिए, जब उसे योग्यता, वफादारी व ईमानदारीपूर्वक न किया हो। मनुष्य का अपने कार्य के प्रति, यदि वह लोकहितकर है तो निष्ठावान होना चाहिए, उसे दिलचस्पी से पूर्ण करना चाहिए, इसी में उसका गौरव है।

जिस व्यक्ति में कर्त्तव्यनिष्ठा आ जाती है, वह जीने की कला में शीघ्र पारंगत हो सकता है, किन्तु जहाँ जीने की कला में बाधक तत्त्वों का विवेक नहीं होता, हेय-उपादेय का ज्ञान नहीं होता, जीवन के विकट प्रसंगों में मनुष्य साधना पथ से हटकर भाग खड़ा होता है, वहाँ जीने की कला नहीं है। और जिसे जीवन-कला में बाधक तत्त्वों का ज्ञान नहीं होता, वह कई अच्छे कार्य करते हुए भी एकाध दोषों से अपने जीवन को दुःखपूर्ण, दयनीय और कलाहीन बना लेता है।

एक बहिन थी, वह बड़ी कर्मठ थी, पर उसमें दो दोष थे। एक तो यह कि वह किसी का थोड़ा सा काम करके सबके सामने बार-बार कहती फिरती थी। दूसरा यह कि किसी को अपने से ज्यादा सुखी वह नहीं देख सकती थी। यहाँ तक कि अगर कोई अपने पति से प्रेम करे या बीमारी में उसकी सेवा करे तो यह भी उसे बुरा लगता था, वह निन्दा किया करती थी। उसके कारण बहुत काम करने पर भी उस

कुंए बनवाने और सादगी से जीवन बिताने वाली बहिनो के खान-पान का प्रबन्ध करने मे किया। वह स्वय सादगी मे और सयम मे रहने लगी। गरीबो को तो वह मदद करती ही थी पर मध्यम वर्ग के, उन कुलीन कहे जाने वाले कुटुम्बो को भी चुपचाप मदद करती थी, जो माँग नही सकते थे। आखिर वेश्या का नाम घर-घर फैल गया। उसके जीवन पर आई हुई डामर की कालिमा पर पक्के सफेदे का ऐसा चित्र बन गया कि वह पूर्व कालिमा भी उस चित्र का अग बन कर शोभा बढाने लगी। इतिहास मे उस अबपाली वेश्या का नाम प्रसिद्ध है, जिसने महात्मा बुद्ध के चरणो मे सर्वस्व समर्पित करके अपने जीवन को सफल और कलामय बनाया था।

आप यह चिन्ता मत कीजिए कि आपका भूतकाल का जीवन कैसा गलत ढग से बीता है। आप भविष्य के निर्माण की सोचिए, वर्तमान को सफल और कलामय बनाने की ओर ध्यान दीजिए। अगर आप गृहस्थ है तो गृहस्थ के कर्त्तव्यो का सुन्दर ढग से पालन कीजिए, परिवार, समाज, राष्ट्र और मानव-जाति के प्रति उत्तरदायित्व को निभाइए, अपने जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति, कार्य या वृत्ति को जीने की कला की दृष्टि से तौलिए, परखिए और फिर अगर वह सत्य जँच जाय, हितकर समझ मे आ जाय तो बिना किसी हिचकिचाहट के, बिना किसी के अनुमोदन-अभिनन्दन के, उसे करते जाइए। आपके जीवन की सफलता निश्चित है, आपका भविष्य उज्ज्वल है। आपका जीवन शीघ्र ही जीने की कला की पगडडियो को पकड लेगा, जहाँ से गिरने की कोई सम्भावना नही, जहाँ से फिसलने का कोई अनुमान नही।

अन्धकार के भय से उबार लेता है, उसकी आँखे इतनी बड़ी हो गयी है कि वह घर बैठा-बैठा हजारो कोस दूर की बात को देख सकता है, उसके कान इतने लम्बे हो गए है कि वह हजारो मील के शब्द एक क्षण मे श्रवण कर लेता है, उसकी टाँगे इतनी गतिशील हो गई है कि वह लाखो और करोड़ो मील की यात्रा, जल, स्थल और नभचारी बनकर कर लेता है, उसकी पहुँच इस दृश्यमान पृथ्वीपिण्ड पर ही नहीं चन्द्रलोक और आकाश के अन्य ग्रहो तक होने लग गई है, उसका मस्तिष्क हजारो ग्रन्थो को अपने मे समा लेने की शक्ति रखने वाला बन गया है, उसके हाथ हजारो आदमियो का काम अकेले करने लग गये है, पृथ्वी अब उसके लिए छोटी-सी हो गई है, उसका छोटा-सा मुँह अपनी बात को ठेठ आकाश, पाताल तक पहुँचाने मे समर्थ हो गया है, इस प्रकार मानव ने बाहर तो प्रगति का शंख फूंक दिया है, स्वर्ग के देवो को भी अपने वैभव का चेलेञ्ज दे दिया है। उसकी दिनोदिन बढ़ती हुई इस प्रगति-लिप्सा को भौतिकवाद का असीम पृष्ठबल मिल रहा है, वैज्ञानिक जगत् उसका दाहिना हाथ बन गया है। ससार का नाश और निर्माण उसकी मुट्ठी मे बँधे है।

बाहर तो मानव ने स्वर्ग का वैभव बिखेर दिया है, पर क्या मानव ने अपने भीतर की झाँकी भी देखने का कष्ट किया है, हृदय की धड़कनो को टटोलने, मन के उतार-चढ़ावो को नापने और बुद्धि की वेदना को सुनने का भी कभी प्रयत्न किया है? क्या वहाँ मानव को सुख की सगीन लहरिया सुनाई दे रही है? क्या कभी उसने यह भी जानने का प्रयत्न किया है कि इन स्वर्गीय शहनाइयो के पीछे रौरव नरक का हाहाकार छिपा हुआ है? उसके हृदय, मन और बुद्धि मे जो अशान्ति का ज्वालामुखी पहाड़ धधक रहा है, वह इस बाह्य स्वर्णिम वैभव को कितने दिन टिकने देगा, भीतर मे सूखते हुए आत्मिक-सौन्दर्य का वृक्ष कब तक हरा-भरा रहेगा? मनुष्य की इन भौतिक-प्रगतियों का, बाह्य-वैभवो का और बाह्य-सौन्दर्य का तब तक कोई मूल्य नही है, जब तक उसके अन्तर मे मानवता का नाद न जाग उठे, उसके हृदय मे मानवता की शहनाई न बज उठे, अन्तर मे मानवता का सौन्दर्य न लहरा उठे। मानव ने आज जीवन-पथ को कटकाकीर्ण बना लिया है, सुधा के सुस्वादु पान को छोड़कर वह हलाहल जहर का घड़ा अपने होठो मे लगाये हुए है, जीवन के मुख्य प्रश्नो को छोड़ कर वह गौण प्रश्नो को हल करने बैठा है, समस्याओ के असली समाधान की उपेक्षा करके वह समस्याओ को विकटतम और गहन बनाता जा रहा है, और नकली समाधान से सन्तुष्ट हो रहा है। अपने जीवन का विधाता मानव आज जीवन से ही [illegible] रहा है। उसके पास सब कुछ आन्तरिक वैभव है, किन्तु वह कस्तूरीमृग की तरह उसे बाह्य-वैभव मे ढूँढ रहा है। उसकी जीवन मे हार का कारण उसके सामने [illegible] है, किन्तु वह नही पहचान रहा है। मानव मानव को जड़ से [illegible] रहा है, आदमी आदमी के लिए सिरदर्द का कारण बना हुआ है, [illegible] दोनो [illegible] जा रही है, मानव को मानव से [illegible]

कहेगा—मैं महाराष्ट्रीयन हूँ, मैं बगाली हूँ, मैं बिहारी हूँ, मैं पजाबी हूँ, गुजराती, या सिंधी हूँ। बीस तरह से अलग-अलग नाम बता देगा, परन्तु वह यह नहीं कहेगा कि मैं मानव हूँ और भारतीय हूँ। प्राय शिक्षा संस्थाओं में, साम्प्रदायिक संस्थाओं में, जाति संस्थाओं में, राजनैतिक संस्थाओं में, व्यापारिक संस्थाओं में सर्वत्र यह बीमारी घुस गई है। छोटे बच्चों को पता ही नहीं होता कि मैं किस सम्प्रदाय, जाति या प्रान्त वाला हूँ, परन्तु माता-पिता या समाज वाले लोग उसके दिमाग में संकीर्णता का भूत घुसा देते है, उसकी मानवता निकाल कर दानवता का प्रवेश करा देते है।

पर मानवता तो इन सब भेदों से ऊपर उठकर अभेद की ओर ले जाने वाली है। जब हम अपने आपको जातीय, प्रान्तीय, सम्प्रदायीय, राष्ट्रीय आदि सब दीवारों को लाँघकर आगे देखना और सोचना प्रारम्भ कर देंगे, तभी हमारे सारे संघर्ष समाप्त होंगे, सारी संकीर्णता दूर होगी, सारी भेद की फौलादी दीवारें टूटेंगी, दिल जुड़ेंगे, हृदय मिलेंगे, मनोमालिन्य नौ-दो ग्यारह होगा, स्वार्थ की ज्वालाएँ बुझेंगी। जब हम अपने को टुकड़ों में, भेदों में और विभिन्न रूपों में देखते है तो एक-दूसरे को देखते ही द्वेष की ज्वाला भड़क उठती है। हिन्दुस्तानी पाकिस्तानी को देखता है, रशियन अमेरिकन को देखता है तो मन में क्रोध की आग धधकने लगती है, द्वेष का दावानल सुलगने लगता है। मानवता की पवित्र गंगा में स्नान करते ही, मानवता की उत्ताल तरंगें हृदय-सरोवर में उठते ही ये सारी भेद की दीवारें भरभरा कर गिरती जायेंगी, मानव सुख और संतोष की साँस लेगा।

मानव और मानवता में उतना ही अन्तर है जितना दूध और दूध की बोतल में। यदि आपको दूध पीना है तो किसी न किसी बोतल या पात्र में होगा तभी पी पायेंगे। दूध की खाली बोतल के रूप में मानव-शरीर है, अगर मानवता-रूपी दूध उसमें नहीं है, तो बेकार है। आपने एक बहुत अच्छी दूकान मौके पर किराये पर ली है। उसमें आलमारियाँ, शो-केस, टेबल, कुर्सियाँ आदि सजा दी है, जौहरी हाउस का साइनबोर्ड भी आपने लगा दिया है, परन्तु यदि उस दूकान में माल कुछ भी नहीं है, ग्राहक आता है, तो खाली लौट कर जाता है, तो वह दूकान एक धोखे की टट्टी है। उससे कोई लाभ नहीं है दूकानदार को, न ग्राहक को। इसी प्रकार यदि आपने मनुष्य शरीर पा लिया है, उसे खूब मोटा-ताजा भी बना लिया है, विविध अलंकारों से विभूषित भी कर दिया है, परन्तु कोई भी मानव आपके सम्पर्क में आता है, तब आप घृणा की दृष्टि से देखते है, उसका तिरस्कार करते है, अपनी सेठाई के अभिमान में आकर उसको दुत्कार देते है, पास में शक्ति होते हुए भी किसी को दुःखित, दर्द और कराहते हुए देखकर भी आगे दौड़ जाते है, आपके हृदय में मानव को देख प्रसन्नता की तरंगें नहीं उठती है, आपका हृदय मनुष्य के प्रति आत्मीयता [illegible] स्पन्दनों से [illegible] नहीं [illegible] जाता है, तो कहना चाहिए कि [illegible] 'ऊँची दूकान फीका पकवान' वाली उक्ति चरितार्थ हो रही है। [illegible]

तो उसका कोई महत्त्व नही है, ज्ञानियो की दृष्टि मे। मानव-शरीर तो एक चोर को भी मिला है, जो उस अमूल्य तन को पाकर भी चोरी जैसे पापकर्मों को करके नष्ट कर देता है, मानव-शरीर तो एक वेश्या को भी प्राप्त हुआ है, किन्तु वह केवल समाज की तरुणाई के साथ खिलवाड करके अपना जीवन बिगाड देती है, तो उससे क्या लाभ हुआ ? मानव-शरीर तो एक धनपति को भी उपलब्ध हुआ है, किन्तु वह दूसरो पर अत्याचार और शोषण करके जीता है, दूसरो के साथ घृणा और द्वेष करके अपनी जिन्दगी बिता देता है तो उस मानव-शरीर का क्या मूल्य ? सच है, मानव-शरीर तो पाकर भी मनुष्यता प्राप्त नही की, मनुष्यता अपने अन्तर मे नही जगाई तो सारा किया कराया गुड-गोबर है। मानव-शरीर तो लाखो और करोडो आदमियो को एक बार नही, असंख्य बार मिल चुका है, पर उससे कोई फायदा नही हुआ, वह मिलना न मिलने के बराबर ही हुआ। इसीलिए भारत के मनीषियो ने मानव-शरीर की अपेक्षा मानवता को महत्त्व ज्यादा दिया है। उन्होने अपनी शान्त वाणी मे यही कहा—

'नहि मानुषात् श्रेष्ठतर हि किंचित्'

अर्थात्—"मनुष्यत्व से श्रेष्ठतर वस्तु इस दुनिया मे कुछ भी नही।" हाँ, तो मै आपसे कह रहा था कि मनुष्य शरीर की विशेषता किसमे है ? क्या मानव-शरीर पाकर आपने दो हाथ के बदले चार हाथ प्राप्त कर लिए, एक मुंह के बदले दो मुंह पा लिए, दो पैरो के बदले दस-बीस पैर पा लिए या आपने किसी पर शासन करके, किसी के धन पर कब्जा करके, किसी देश को हडप कर, तीसमारखाँ का खिताब पा लिया ? क्या लम्बे-चौडे, सुन्दर-सुरूप शरीर के पाने मे ही मनुष्य शरीर सार्थक है, क्या बलवान और पहलवान बन जाने मे ही मनुष्य तन की विशेषता है, क्या अन्यायोपार्जित सम्पत्ति का ढेर लगा लेने मे ही मनुष्य देह का महत्त्व है, क्या लम्बा-चौडा परिवार बना लेने मात्र से ही मानव-मूर्ति सफल है ? आखिर मनुष्य शरीर की सार्थकता किसमे है ? लम्बे-चौडे, सुन्दर और सुरूप शरीर के पाने वाले ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, सनत्कुमार चक्री और वासवदत्ता वेश्या की कहानी तो आपने सुनी ही होगी ? उनके शरीर का क्या हाल हुआ था ? क्या उनके सौन्दर्य के गर्व को मृत्यु ने [illegible] नही कर दिया था। [illegible] बलवान और पहलवान आदमी के शरीर को क्या [illegible] छोटा-सा [illegible] मच्छर [illegible] चुनौती नही दे सकता ? क्या [illegible] [illegible] और [illegible] उनके अपने [illegible] ने [illegible] दिन समाप्त नही कर दिया ? क्या लम्बे और चौडे परिवार वाले यादवो, कस और रावण का [illegible] [illegible] हुआ। [illegible] और दूषित [illegible] समाज मे पाप [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] रूप, बल, बुद्धि और [illegible], अगर [illegible] नही है [illegible] मानवता न हो [illegible]।

[illegible] सभी धर्मो का प्राण है, [illegible] [illegible] मानवता नही है, [illegible] [illegible] [illegible] है। जो धर्म मानवता का [illegible],

तो उसका कोई महत्त्व नही है, ज्ञानियो की दृष्टि मे। मानव-शरीर तो एक चोर को भी मिला है, जो इस अमूल्य तन को पाकर भी चोरी जैसे पापकर्मों को करके नष्ट कर देता है, मानव-शरीर तो एक वेश्या को भी प्राप्त हुआ है, किन्तु वह केवल समाज की तरुणाई के साथ खिलवाड करके अपना जीवन बिगाड देती है, तो उससे क्या लाभ हुआ ? मानव-शरीर तो एक धनपति को भी उपलब्ध हुआ है, किन्तु वह दूसरो पर अत्याचार और शोषण करके जीता है, दूसरो के साथ घृणा और द्वेष करके अपनी जिन्दगी बिता देता है तो उस मानव-शरीर का क्या मूल्य ? सच है, मानव-शरीर को पाकर भी मनुष्यता प्राप्त नही की, मनुष्यता अपने अन्तर मे नही जगाई तो सारा किया कराया गुड-गोबर है। मानव-शरीर तो लाखो और करोडो आदमियो को एक बार नही, असख्य बार मिल चुका है, पर उससे कोई फायदा नही हुआ, वह मिलना न मिलने के बराबर ही हुआ। इसीलिए भारत के मनीषियो ने मानव-शरीर की अपेक्षा मानवता को महत्त्व ज्यादा दिया है। उन्होने अपनी शान्त वाणी मे यही कहा—

'नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्'

अर्थात्—"मनुष्यत्व से श्रेष्ठतर वस्तु इस दुनिया मे कुछ भी नही।" हा, तो मै आपसे कह रहा था कि मनुष्य शरीर की विशेषता किसमे है ? क्या मानव-शरीर पाकर आपने दो हाथ के बदले चार हाथ प्राप्त कर लिए, एक मुँह के बदले दो मुँह पा लिए, दो पैरो के बदले दस-बीस पैर पा लिए या आपने किसी पर शासन रखके, किसी के धन पर कब्जा करके, किसी देश को हडप कर, तीसमारखाँ का घृणित पद पा लिया ? क्या लम्बे-चौडे, सुन्दर-सुरूप शरीर के पाने मे ही मनुष्य शरीर सार्थक है, क्या धनवान और पहलवान बन जाने मे ही मनुष्य तन की विशेषता है, क्या अन्यायोपार्जित सम्पत्ति का ढेर लगा लेने मे ही मनुष्य देह का महत्त्व है, क्या लम्बा-चौडा परिवार बना लेने मात्र से ही मानव-मूर्ति सफल है ? आखिर मनुष्य शरीर की सार्थकता किसमे है ? लम्बे-चौडे, सुन्दर और सुरूप शरीर के पाने वाले ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, सनत्कुमार चक्री और वासवदत्ता वेश्या की कहानी तो आपने सुनी ही होगी ? उनके शरीर का क्या हाल हुआ था ? क्या उनके सौन्दर्य के गर्व को मृत्यु ने चकनाचूर नही कर दिया था। एक धनवान और पहलवान आदमी के शरीर को क्या एक छोटा-सा क्षुद्र जन्तु मलेरिया का मच्छर चुनौती नही दे सकता ? क्या बडे-बडे धनपतियो और धन-कुबेरो को उनके अपने काले कारनामो ने एक दिन समाप्त नही कर दिया ? क्या लम्बे और चौडे परिवार वाले यादवो, कस और रावण को उनके ही कुटुम्बियो के सामने घृणित और दूषित ढग से इस ससार से पापकर्म के साथ विदा नही होना पडा ? सचमुच, मानव-जीवन मे रूप, बल, बुद्धि और वैभव की, अपने आप मे कोई कीमत नही है अगर मानवता न हो तो !

मानवता सभी धर्मों की जन्मभूमि है। मानवता सभी धर्मों का प्राण है, सत्य ... किसी भी धर्म मे मानवता नही है, तो वह धर्म दुनिया के किसी काम का ... वह धर्म मानव-समाज के लिए अभिशाप है। जो धर्म मानवता का आदर,

मानव-जीवन में जहाँ मनुष्य का महत्त्व घटाकर मनुष्य को नजर-अन्दाज करके, मनुष्य से बढ़कर धन को, भौतिक साधनों को, जाति को, सम्प्रदायों को, विवेक-हीन परम्पराओं व मान्यताओं को, अन्धराष्ट्रीयता को, अन्धप्रान्तीयता को, अन्ध-भाषावाद को, अन्धतापूर्वक किसी व्यक्तित्व को महत्त्व दिया जाता है, मूल्यांकन किया जाता है, वहाँ मानवता चकनाचूर हो जाती है, वहाँ मनुष्यत्व नेस्तनाबूद हो जाता है। जहाँ धन, साधन, जाति, सम्प्रदाय, पंथ, अन्ध-परम्परा, गुरुडमवाद, अन्धराष्ट्रीयता, अन्धप्रान्तीयता व अन्धे भाषावाद से ऊपर उठकर मानव के विषय में विचार किया जाता है, मानव को महत्त्व दिया जाता है, मानव का मूल्यांकन किया जाता है, वही वास्तविक मानवता है, वही सच्चा मनुष्यत्व है और उसी की ओर हमारे पूर्व महापुरुषों का संकेत है। जहाँ विवेकपूर्ण सन्तुलन रखकर मानव मानव के साथ व्यवहार करता है, जहाँ धन, साधन या सांसारिक किसी भी पदार्थ की अपेक्षा मनुष्य का मूल्यांकन अधिक किया जाता है, जहाँ मनुष्य को, फिर वह चाहे जिस देश, जाति पंथ और सम्प्रदाय का हो, किसी भी वेशभूषा में हो, किसी भी भाषा का बोलने वाला हो, किसी भी प्रान्त, नगर या गाँव में रहने वाला हो, किसी भी मान्यता या परम्परा का अनुयायी हो, किसी भी विचारधारा में विश्वास रखता हो, अगर उसे देखकर प्रसन्नता पैदा होती हो, उसे देखकर प्रेम उमड़ता हो, उसे दुःखी, पीड़ित और हीन अवस्था में देखकर करुणा और सहानुभूति पैदा होती हो, उसे शोषित, पददलित और अभावयुक्त स्थिति में देखकर उसके दुःख दूर करने की वृत्ति पैदा होती हो, उसे रोग या शोक से ग्रस्त देखकर सेवा करने की, सान्त्वना देने की भावनाएँ आन्दोलित होती हों, उसे फटे हाल, नंगे, भूखे देखकर दयार्द्र-दृष्टि से उसकी मुसीबत दूर करने के लिए हृदय मचलता हो, उसे किसी भी आपत्ति, विपत्ति और आधि-व्याधि में पड़े देखकर आपका मन उपकार-कृतार्थ होता हो, उसे रोते हुए देखकर उसके आँसू पोंछने को जी चाहता हो, उसे किसी भी व्यसन, बुराई और पतित अवस्था में फँसा देखकर आपकी करुणापूर्ण वाणी और हृदय प्रेमपूर्वक अपना लेने और उबारने का प्रयत्न करने के लिए तत्पर हो, उसकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति गिरी हुई, तिरस्कृत और उपेक्षित हो तो आपका मन सहानुभूति एवं सहयोग के लिए बेचैन हो उठता हो, तो समझना चाहिए वहाँ मनुष्यत्व है, मानवता है। जहाँ इसके विपरीत स्थिति हो, मनुष्य को देखकर घृणा, द्वेष, क्रोध, ईर्ष्या, छल-छिद्र, मारकाट करने, उससे परहेज करने, उसे किसी भी प्रकार से दुःख में डालने की वृत्ति या रुचि आप में पैदा होती हो, तो समझना चाहिए वहाँ मानवता की हार है, मानवता वहाँ खत्म हो गई है। जहाँ मानवता होती है, वहाँ कर्तव्यों और अधिकारों का विवेक होता है, सन्तुलन होता है, लेनदेन होता है। जहाँ केवल लेने ही लेने की वृत्ति है, जहाँ अधिकारों की ही भाषा में मनुष्य सोचता है, कर्तव्य को गौण कर देता है, वहाँ कर्तव्य और अधिकार का सन्तुलन नहीं है, विवेक नहीं है, सभ्यता और मर्यादा की भाषा में भी नहीं सोचा जाता है, वहाँ दानवता है, पशुता है। इससे भी आगे बढ़कर जहाँ केवल अधिकारों की ही माँग

१०

जिन्दगी की मुस्कान

विश्व के प्राय सभी धर्मों, दर्शनों, विचारधाराओं, वादों और ज्ञान-विज्ञानों का चरम और परम उद्देश्य है—मानव-जीवन को सर्वश्रेष्ठ बनाना, मनुष्य के अन्दर मनुष्यता जगा कर उसे देवत्व और भगवत्त्व तक पहुचा देना। किन्तु यह उद्देश्य तभी पूरा हो सकता है, जब मनुष्य अपनी जिन्दगी को सँभाले, अपने जीवन की उज्ज्वलता और कीमत समझे, मानव-जीवन की महत्ता का वास्तविक मूल्यांकन करे। जब तक कोई भी मनुष्य अपने जीवन को सही रूप मे पहिचानता नहीं है, अपने जीवन की विराट्ता का सही तत्त्व अवगत नही कर लेता है, तब तक उस जीवन पर कोई नया रंग नही लग सकता, उस पर कोई पॉलिश या रोगन नही किया जा सकता, उस जिन्दगी को मांजा या चमकाया नही जा सकता। एक रंगरेज किसी भी पुराने कपडे पर नया रंग चढाना चाहता है, तो उसे पहले उस कपडे पर लगे हुए पुराने रंग को साफ कर लेना पडता है, तभी वह उस कपडे पर दूसरा नया रंग भली-भांति चढा सकता है, इसी तरह अगर कोई व्यक्ति अपने जीवन-पट पर, जो कि वर्षों पुराना है, जिस पर हजारों और लाखो वर्षों के संस्कारों के रंग लगे हुए हैं, नया रंग—ऐसा रंग जो चमकदार हो, चढाना चाहता हो, तो उसे भी पहले के रंगों की शुद्धि कर लेनी पडेगी। अन्यथा जीवन-पट पर रंग बढ़िया नही चढेगा, जीवन-पट बदरंग हो जायगा। इसी प्रकार एक चित्रकार के सामने चित्र बनाने के सभी साधन पडे हैं, चित्रकार भी हाथ मे कूंची लिए स्वस्थ चित्त से चित्र बनाने को तैयार बैठा है, किन्तु जिस दीवार पर वह चित्र बनाना चाहता हो, वह पहले से यदि साफ नही है, मैली है, ऊबडखाबड है, सम नही है, तो चित्रकार चाहे लाख प्रयत्न करे, बढिया चित्र नही बना सकेगा, इसी प्रकार अगर आपकी जिंदगी रूपी दीवार मैली व ऊबड़-खाबड़ है, सम नही है और उसी पर आपको सुन्दर चित्र खींचना है, बोलती हुई तस्वीर [illegible] शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और वाणी आदि सभी साधनों के होते हुए भी [illegible] तस्वीर नही बनेगी, सुन्दर चित्र नही चित्रित होगा। आपको अपनी जिन्दगी रूपी दीवार को पहले साफ करना होगा, उसके ऊबड़-खाबड़पन को मिटाना [illegible] दूर करना होगा, तभी उस पर आप विविध भावों से सुन्दर चित्र

मिला तो सही, पर आपने उसे समझा ही नहीं, उसे परखा ही नहीं, आपकी जिन्दगी मुस्कराई नहीं, मुर्झाई है। जो जिन्दगी मुस्कराती नहीं, खिलती नहीं, उन्नत नहीं बनती, वह जिन्दगी पृथ्वी के लिए भारभूत है। वासना का बोझ ढोए वह अपनी जिन्दगी को गुजारे चला जा रहा है। ऐसे मनुष्य की जिन्दगी केवल शरीर को सजाने-सँवारने, धन के ढेर लगाने, महल खड़े करने और विलासपूर्ण वस्तुओं के अम्बार लगाने में ही खत्म हो जाती है। उसकी जिन्दगी नीरस, निरुद्देश्य और बेखटके की जिन्दगी है। उस जिन्दगी का क्या मूल्य है जो स्वयं ही मुर्झा कर समाप्त हो जाती हो, न किसी के काम आती हो, न दूसरों के लिए प्रेरणादायी बनती हो?

कल्पना कीजिए, कोई व्यक्ति अपने मित्र को पत्र लिखना चाहता है, लिफाफा बड़ा मजबूत और सुन्दर है, बेलबूटे भी उस पर हो रहे हैं। आर्ट पेपर का बढ़िया कागज है, उसने अपने मित्र का पता भी लिफाफे पर अंकित कर दिया है किन्तु अपने मित्र को समाचार कुछ भी नहीं लिखा है, उसका मित्र लिफाफा खोलता है, लेकिन उसे लिखा हुआ समाचार कुछ भी नहीं मिलता तो वह कोरा लिफाफा क्या काम आया? उस पर किये हुए बेलबूटे या अता-पता किस मतलब के?

यही स्थिति मानव-जीवनरूपी पत्र की है। अगर कोई व्यक्ति अपने शरीररूपी लिफाफे को खूब व्यवस्थित ढंग से सजा ले, पाउडर और क्रीम चेहरे पर पोत ले, सुन्दर रेशमी वस्त्र शरीर पर लाद ले, माणिक मोतियों के अलंकार शरीर पर धारण कर ले, किन्तु जीवन में जो असली तत्त्व-सत्त्व होना चाहिए, वह बिल्कुल गायब हो, जीवन-व्यवहार में मनुष्यता, संयम, विनय, विवेक आदि नहीं हों तो वह जीवन भी बिना समाचार के लिफाफे के समान है। ऐसे जीवन-लिफाफों से मानव की कोई समस्या हल नहीं होती, स्वयं अपने जीवन को अपने से निराशा पैदा होती है।

अगर बगीचे में ऐसी किस्म के फूल खिल रहे हैं, जिनमें सुवास बिल्कुल ही नहीं है, केवल रंग ही रंग है तो आपको वे फूल आकर्षित नहीं करेंगे। आप उन फूलों के पास जाना नहीं चाहेंगे। इसी प्रकार किसी आदमी को लम्बा-चौड़ा, सुन्दर सुरूप शरीर मिला है, किन्तु उसमें विनय, विवेक, मानवता, संयम, सत्य, अहिंसा आदि सद्गुणों की सुवास नहीं है तो वह मनुष्य संसार के समझदार लोगों को आकर्षित नहीं कर सकेगा। कवियों की कलमें, लेखकों की लेखनियाँ, चित्रकारों की तूलिकाएँ ऐसी सुवासरहित जिन्दगी का रेखाचित्र खींचने को उत्सुक नहीं होंगी, होंगी तो भी घृणाभाव के साथ। जिस जिन्दगी में सत्य, शिव और सुन्दरम् नहीं होता, जो जिन्दगी मुर्झाई हुई है, उसके पास फटकने में लोगों को संकोच होता है, ऐसी जिन्दगी का अनुकरण करने को जी नहीं ललचाता। ऐसी जिन्दगी और पशु की जिन्दगी में कोई खास अन्तर नहीं होता।

संसार के इतिहास में ऐसे अगण्य उदाहरण मिलेंगे, जिनकी जिन्दगी [illegible] सदा [illegible] हो गया था, जिनकी जिन्दगी बुरी तरह से मुर्झा गई थी, जिन्हें [illegible]

इतने में ही स्वयंसेवकों से भरी हुई एक एम्बुलेंस कार वहाँ आ पहुँची। स्वयंसेवक उसे पागल और विक्षिप्त मस्तिष्क का एक भारतीय समझ कर सहायता केन्द्र के केम्प में ले गए और उसकी परिचर्या की वहाँ व्यवस्था कर दी।

उधर अमेरिका में अणुबम के शोधक डॉ० चार्ल्स निकोलस की खोज हो रही थी। उसकी पत्नी 'मेरी' और उसका प्रिय मित्र 'रॉबर्ट सिडनी' उसकी खोज के लिए दौड़धूप कर रहे थे। उनके हृदय में यह विचार तरंगें उठ रही थीं कि हमने निकोलस को कितना समझाया था कि अणुबम की शोध का उपयोग करने से संसार का कितना विनाश हो जायगा, जानमाल की कितनी हानि होगी, यह स्वर्ग-सा संसार नरक बन जायगा, लेकिन उसने हमारी बात स्वीकार न की, इसीलिए तो हमने उसका साथ छोड़ा, किन्तु ऐसा मालूम होता है कि उसने अपनी ४० वर्ष की शोध को सरकार के हाथों में सौंपकर संसार में रौरव का दृश्य उपस्थित कर दिया है, फिर भी स्नेह के नाते हमें उसका पता तो लगाना चाहिए। इस प्रकार सोचकर वे उसकी प्रयोगशाला में गये। किन्तु वहां पर एक दीवार पर 'He shall go to hell' (वह नरक में जायगा) यही निकोलस के हाथ का लिखा हुआ वाक्य मिला। उसी समय निकोलस के बूढ़े नौकर टोमी ने उनसे कहा कि जिस समय रेडियो पर हीरोशिमा के नष्ट होने की खबर आई कि तुरंत वे उठ खड़े हुए और पागल की तरह चिल्लाते हुए आँखें बंद करके तथा यहाँ से दौड़ते हुए चले गए। उसके बाद उनका कोई पता नहीं।

समाचारपत्रों में डा० चार्ल्स निकोलस के गुम होने के समाचार देकर 'सिडनी' और 'मेरी' अमेरिका से जब जापान पहुँचे तो उनका वहाँ शान्तिसंघ के सदस्यों ने भव्य स्वागत किया और वे उन्हें सहायता-केन्द्रों के अवलोकनार्थ ले गये। वहाँ के प्रसिद्ध डाक्टर विलियम ने उन्हें अस्पताल का निरीक्षण कराते हुए प्रश्न किया कि 'क्या आप बता सकते हैं कि ऐसे भयंकर अणुबम का शोधक कौन था?' सिडनी ने ज्योंही डा० चार्ल्स निकोलस का नाम बताया, त्योंही उनके कर्णकुहरों में एक पागल की आवाज आई—

'Allas, he shall go to hell !'

'अफसोस, वह अवश्य नरक में जायगा।'

वे यह सुनकर एकदम चौंके और उन्हें यह विश्वास हो गया कि जान होता है, यह पागल ही चार्ल्स निकोलस है। क्योंकि प्रयोगशाला की दीवार पर भी यही लिखा हुआ था और टोमी ने भी यही बात कही थी।

वे दौड़ते हो उसके पास आए और आँखों में आँसू बरसाते हुए कहने लगे—'ओ निकोलस, तुम्हारी यह दयनीय दशा!'' निकोलस भी अपनी पत्नी और प्रिय मित्र को पहचान गया और लड़खड़ाती हुई जबान में अपने दुष्कृत्य पर पश्चात्ताप करता हुआ कहने लगा—'मेरी! तुम्हारी बात सच्ची सिद्ध हुई। मैं अवश्य ही नरक में जाऊँगा। जो दूसरों को दुःखी करके भी संसार पर सदा मुस्कराता रहना चाहता है, वह मेरा

योगीश्वर आनन्दघनजी बड़े निःस्पृह मस्त थे। एक बार वे किसी गाँव में ठहरे हुए थे। वहाँ का यह नियम था कि कोई भी साधु उस गाँव में तभी व्याख्यान प्रारम्भ कर सकता था, जब वहाँ के 'नगर सेठ' व्याख्यान में आ जाते। योगीश्वरजी को इससे कोई मतलब नहीं था कि वे दूसरे श्रोताओं की परवाह न करके एक धनिक और प्रभुत्व सम्पन्न व्यक्ति की व्यर्थ में ही खुशामद करते या उनको निरर्थक ही बड़ावा देते। संयोगवश, एक दिन नगर-सेठ व्याख्यान में कुछ देर से पहुँचे। आनन्दघनजी का व्याख्यान चालू हो गया था। नगर-सेठ को यह बहुत अखरा, वे मन मसोस कर उस समय तो चुपचाप बैठ गये। व्याख्यान समाप्त होने के बाद वे आनन्दघनजी के पास आये और बोले—"महाराज, आपको यहाँ की प्रथा का और नियम का पता नहीं है? यहाँ व्याख्यान तभी शुरु हो सकता है, जब नगर-सेठ आ जाय? आपने गाँव की मर्यादा को भंग किया है? आपको सोच-विचार कर यह कदम उठाना चाहिए था।" आनन्दघनजी फक्कड़ साधु थे, उन्हें क्या मतलब था कि वे नगर-सेठ के लिए व्याख्यान देने से रुके रहे। वे अपनी मस्ती में बोले—"मैं इन अनुचित मर्यादाओं, जो सिर्फ भौतिक सम्पत्ति वालों का ही पृष्ठपोषण करने वाली हो, नहीं मान सकता।" सेठ रोष में भरकर बोले—'तो महाराज, आपको रहना तो अभी इसी गाँव में है, इसी सम्प्रदाय में है, फिर इतनी ऐंठ करके आप अपनी जिन्दगी कैसे बिताएँगे?" आनन्दघन जी ने देखा, सेठ का पारा गर्म हो गया है। वे शान्तभाव से बोले—"सेठजी, ऐसा है तो मैं अभी इसी गाँव से चल देता हूँ और सम्प्रदाय के साथ मैंने अपनी आत्मा को नहीं बाँध लिया है, अगर आपको यह गर्व हो कि आनन्दघन को हम ही पालते हैं तो यह मिथ्या धारणा है। मुझे आपके आलीशान उपाश्रयों की आवश्यकता नहीं है, और न सेठ-सामन्तों की गुलामी ही पसन्द है।" यों कहकर वे उसी समय जंगल में साधना करने चले गये और मस्ती में विभिन्न स्थानों में भ्रमण करते हुए अपनी साधना करने लगे। यह है जिन्दगी की मुस्कान का एक नमूना! जहाँ ऐसी मुस्कान आ जाती है, वहाँ कोई भी उत्तम कार्य, उत्तम साधना, किसी विपत्ति, दुःख या आफत से रुकी नहीं रहती। स्वयं योगीश्वर आनन्दघनजी अपनी रचित तीर्थंकर चौबीसी में तृतीय तीर्थंकर सम्भवनाथजी की प्रार्थना करते हुए जीवन की असली मुस्कान का रहस्य प्रगट करते हैं—

> "सेवन-कारण पहली भूमिका रे।
> अभय, अद्वेष, अखेद॥
> भय चंचलता जे परिणाम नी रे,
> द्वेष अरोचक भाव।
> खेद प्रवृत्ति करता थाकिये रे,
> दोष अबोध-लखाव॥
> सम्भव देव ते धुर सेवो सवेरे,
> लही प्रभु सेवन-भेद॥"

रखना या उसके प्रति उपेक्षा-भाव बताना अद्वेष नही है। अद्वेष का असली रूप वहाँ है, जहाँ विरोधी से विरोधी व्यक्ति के प्रति भी मन मे सद्भाव हो, मिलन मे प्रेमभाव हो, वाणी मे स्नेह की अभिव्यक्ति हो, हृदय मे उसके प्रति प्रेम भरा स्थान हो, आत्मा मे करुणा हो। उसके विरोध के कारण अपनी किसी शुभ या शुद्ध प्रवृत्ति को रोकना, सत्य जँची हुई सत्क्रिया मे उदासीन हो जाना, तूफान खड़ा हो जाने के डर से सत्कार्य मे विरत हो जाना, अरुचिभाव धारण कर लेना भी एक प्रकार से द्वेषवृत्ति मे ही आ जाना है। जहाँ द्वेषवृत्ति या अरोचकवृत्ति होती है, वहाँ जीवन मे असली मुस्कान नही आती जीवन की मस्ती का आनन्द नही आता।

और जिन्दगी की मुस्कान का तीसरा तत्त्व है—अखेद। अखेद का मतलब खिन्न न होना, इतना ही नही है। एक मजदूर किसी काम से थकता नही है, खिन्न नही होता या एक वैज्ञानिक अणुबम, उद्जनबम आदि के निर्माण से खिन्न नही होता, इतने मे ही वहाँ अखेद-भाव नही आ जाता। क्योकि वहाँ बुरे कार्य का पश्चात्ताप, बुराई का काँटा दिल मे चुभा रहता है, जो बार-बार पीडा पहुचाता है, खेद पहुचाता है। मनुष्य पहले से ही विवेक के प्रकाश मे ऐसी प्रवृत्ति करे, ऐसा कार्य करे, जिसमे फिर पश्चात्ताप करने का मौका न आए। जहाँ एक बार हाथ से तीर छूट जाता है, वह फिर हाथ मे नही आता। इसलिए किसी भी कार्य का तीर छोडने से पहले मनुष्य को हजार बार सोच लेना चाहिए ताकि जीवन की मुस्कान मे आगे जाकर भग न हो।

हाँ, तो अखेद का अर्थ श्री आनन्दघनजी करते है—सोच-विचारकर प्रवृत्ति करते हुए थकना नही, क्योकि प्रवृत्ति मे दोष तभी आता है जब वह अज्ञानपूर्वक होती है, नासमझी से होती है तो उसके पीछे खेद-खिन्नता जुड जाती है और वह प्रवृत्ति सारी उम्र भर हृदय मे कसक पैदा करती रहती है। इसलिए समझ-बूझकर, अपनी दृष्टि से सत्य जँची हुई, हितकर जची हुई किसी सत्प्रवृत्ति को शुरू करने के बाद थकना नहीं, रुकना नही, खिन्न न होना, उसमे ग्लानि न आना, उसे करते हुए भार न लगना यही अखेद का रहस्यार्थ है।

हाँ, तो अगर मानव अपने जीवन मे जिन्दगी की मुस्कान के इन तीनो तत्त्वो को अपना ले तो उसका जीवन सम्पूर्ण कलाओ सहित पूर्ण कलानिधि की तरह मुस्करा उठे, जीवन की सर्वांगपूर्ण मुस्कान उसके जीवन मे खिल उठे। किन्तु एक बात जरूर ध्यान मे रहे कि उपर्युक्त तीनो तत्त्व परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित है। अगर इन तीनो मे से किसी एक को या दो को ही लेकर कोई समग्र मुस्कान चाहेगा तो उसे वह प्राप्त नही होगी। इन तीनो तत्त्वो के जीवन मे ओत-प्रोत हो जाने पर ही, असली रहस्यार्थ को जानकर जीवन मे अपना लेने पर ही सर्वांग सम्पूर्ण मुस्कान तैयार होती है। यही जिन्दगी की मुस्कान का नुस्खा है।

जिन्दगी की समग्र मुस्कान का मतलब यह है कि जो एक बार प्राप्त होकर न

धर्म की बुनियाद है। इसलिए नैतिक मुस्कान प्राप्त करने के लिए ऐसी कोई भी प्रवृत्ति न करनी चाहिए, जो अनीति-मूलक हो, जिससे समाज, राज्य, राष्ट्र और धर्म की दृष्टि से मनुष्य अवनति की ओर चला जाय। द्यूतकर्म, मांसाहार, चौर्यकर्म, मद्यपान, वेश्यागमन, परस्त्रीगमन, शिकार तथा अन्यान्य व्यसन, नशीली या मादक चीजो का सेवन मनुष्य के जीवन को अनीतिमय बना देता है, उसकी नैतिक मुस्कान को फीका कर देता है, अत इन सबसे बचने का प्रयत्न करना चाहिए।

आत्मिक-दृष्टि से मुस्कान वहाँ है, जहाँ आत्मा के मूलभूत गुणो सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अस्तेय, अनासक्ति, क्षमा, दया, सयम आदि को अपनाया जाय और जीवन के प्रत्येक प्रसग मे दृढतापूर्वक उनका पालन किया जाय। जहाँ ये गुण नही होते है और केवल शिष्टता, सभ्यता आदि बाहरी नैतिक गुण होते है, वहा आत्मा की चमक-दमक नही बढती, आत्मा की सच्ची मुस्कान मन्द पड जाती है। वास्तव मे आत्मा तो इन सभी मुस्कानो की जननी है। अगर आत्मा के सद्गुण जीवन मे नही आए तो जिन्दगी की मुस्कान सर्वांगसम्पूर्ण नही होगी।

उपर्युक्त सभी दृष्टियो से मुस्कान जीवन मे आने पर ही जिन्दगी की सर्वांग-सम्पूर्ण मुस्कान मनुष्य को प्राप्त होती है। इस विषय मे मनुष्य को प्राकृतिक वस्तुओ से अनेक प्रेरणाएँ मिल सकती है। प्रात काल से पहले खिलती हुई ऊषा, सूर्योदय से पहले मुस्कराता हुआ अरुणोदय, आसमान मे सर्वत्र उछलकर भागने वाला समीर, बालसूर्य की प्रकाश-किरणे, एक से एक बढकर जीवन की सच्ची मुस्कान की मूल्यवान प्रेरणाएँ दे रही है। कवि के शब्दो मे—

> उठो, नई किरण लिए जगा रही ऊषा।
> उठो, उठो नए सदेश दे रही दिशा-दिशा॥
> खिले कमल अरुण तरुण प्रभात मुस्करा रहा।
> गगन विकास का नवीन साज है सजा रहा॥
> उठो, चलो, बढो, समीर शख है बजा रहा।
> भविष्य सामने खडा प्रशस्त पथ बना रहा॥
>
> —सत्यनारायण लाल

हाँ तो, आप अपने को मुस्कान के गुणो से भरिये, आपका जीवन मुस्करा उठेगा। आप उठेंगे तो आपका भाग्य मुस्करा उठेगा, आप बैठ जायेंगे तो आपका भाग्य भी मुर्झा जायगा। आपको अपनी जिन्दगी मे सर्वांगसम्पूर्ण सच्ची मुस्कान प्राप्त करनी है, तो आपकी जिन्दगी को अमरता की ओर ले जा सके नरक की गदी राहो से बचा सके और स्वर्ग की पगडंडी पकडा सके।

☆

देते है कि महारानी सूर्यकान्ता के द्वारा विष-दान देने पर भी सम्राट शान्त, प्रशान्त और उपशान्त रहते है । यह है सद्गुरु का चमत्कार ।

स्टेशन

सद्गुरु जीवन रूपी ट्रेन का स्टेशन है । ट्रेन यदि स्टेशन पर रुकती है तो उसे वहाँ किसी भी प्रकार का खतरा नही होता, यदि उसमे किसी भी प्रकार की कोई विकृति उत्पन्न हो जाय तो वहाँ शीघ्र ही दुरुस्त की जा सकती है । स्टेशन पर ही उसे पानी मिलता है, कोयला मिलता है और विश्रान्ति मिलती है। जीवन रूपी ट्रेन का स्टेशन सद्गुरु है, यदि हमारे जीवन मे किसी भी प्रकार की विकृति भी पैदा हो गई है तो सद्गुरु उसे शीघ्र ही ठीक कर देंगे ।

दीक्षा की आज प्रथम रात थी, मेघ मुनि का आसन द्वार के पास लगा था। अन्धकार के कारण मुनियो के पैर व रजोहरण के स्पर्श से मेघ मुनि की निद्रा भग हो गई । चिन्तन चिन्ता मे बदल गया । मैं जब राजकुमार था तब ये मुनि-जन मेरा सत्कार और सम्मान करते थे, मुझे प्रेम करते थे आज मुनि बनते ही यह स्थिति है कि ठोकरें खानी पड रही है । श्रेयस्कर यही है कि प्रात महावीर को ये सारे वस्त्र-पात्र संभला कर गृहस्थ बन जाऊँ । रात भर इस प्रकार मानस मे उधेडबुन चलती रही, प्रात महावीर के चरणो मे पहुँचे । सर्वज्ञ सर्वदर्शी महावीर ने उनको रात के समय मानस मे उठी विचार-लहरियो पर प्रकाश डालते हुए बतलाया कि मेघ तू पूर्वभव मे कौन था, और किस प्रकार के कष्ट तूने सहन किये और अब तनिक से कष्ट से घबरा गया है। मेघ का मानस दुरुस्त हो जाता है । विवेक का निर्मल नीर तथा चिन्तन का गाड मिलते ही उसने प्रतिज्ञा ग्रहण की कि आज से मैं नेत्रो के अतिरिक्त सर्व-शरीर सन्तो की सेवा हेतु समर्पित करता हूँ ।

कुशल नाविक

सद्गुरु जीवन-रूपी नौका का सफल और कुशल नाविक है । जो ससार रूपी सागर मे से तथा क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी तूफान मे से सकुशल पार पहुँचा देता है । एतदर्थ ही सद्गुरु की महिमा का बखान करते हुए एक वैदिक ऋषि ने कहा है—

> गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु, गुरुर्देवो महेश्वर ।
> गुरु साक्षात् पर ब्रह्म, तस्मै सद्गुरवे नम ॥

महत्त्व

भगवान से भी सद्गुरु का महत्त्व अधिक है । एक वैदिक ऋषि ने तो यहाँ तक कहा है—भगवान यदि रुष्ट हो जाय तो सद्गुरु बचा सकता है, पर सद्गुरु रुष्ट हो जाए तो भगवान की भी शक्ति नही जो उसे उबार सके ।

देते है कि महारानी सूर्यकान्ता के द्वारा विष-दान देने पर भी सम्राट शान्त, प्रशान्त और उपशान्त रहते है। यह है सद्गुरु का चमत्कार।

स्टेशन

सद्गुरु जीवन रूपी ट्रेन का स्टेशन है। ट्रेन यदि स्टेशन पर रुकती है तो उसे वहाँ किसी भी प्रकार का खतरा नही होता, यदि उसमे किसी भी प्रकार की कोई विकृति उत्पन्न हो जाय तो वहाँ शीघ्र ही दुरुस्त की जा सकती है। स्टेशन पर ही उसे पानी मिलता है, कोयला मिलता है और विश्रान्ति मिलती है। जीवन रूपी ट्रेन का स्टेशन सद्गुरु है, यदि हमारे जीवन मे किसी भी प्रकार की विकृति भी पैदा हो गई है तो सद्गुरु उसे शीघ्र ही ठीक कर देंगे।

दीक्षा की आज प्रथम रात थी, मेघ मुनि का आसन द्वार के पास लगा था। अन्धकार के कारण मुनियो के पैर व रजोहरण के स्पर्श से मेघ मुनि की निद्रा भग हो गई। चिन्तन चिन्ता मे बदल गया। मै जब राजकुमार था तब ये मुनि-जन मेरा सत्कार और सम्मान करते थे, मुझे प्रेम करते थे आज मुनि बनते ही यह स्थिति है कि—ठोकरें खानी पड रही है। श्रेयस्कर यही है कि प्रात महावीर को ये सारे वस्त्र-पात्र सँभला कर गृहस्थ बन जाऊँ। रात भर इस प्रकार मानस मे उधेडबुन चलती रही, प्रात महावीर के चरणो मे पहुँचे। सर्वज्ञ सर्वदर्शी महावीर ने उनको रात के समय मानस मे उठी विचार-लहरियो पर प्रकाश डालते हुए बतलाया कि मेघ तू पूर्वभव मे कौन था, और किस प्रकार के कष्ट तूने सहन किये और अब तनिक से कष्ट से घबरा गया है। मेघ का मानस दुरुस्त हो जाता है। विवेक का निर्मल नीर तथा चिन्तन का साथ मिलते ही उसने प्रतिज्ञा ग्रहण की कि आज से मैं नेत्रो के अतिरिक्त सर्व-शरीर सन्तो की सेवा हेतु समर्पित करता हूँ।

कुशल नाविक

सद्गुरु जीवन-रूपी नौका का सफल और कुशल नाविक है। जो ससार रूपी सागर मे से तथा क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी तूफान मे से सकुशल पार पहुँचा देता है। इसलिए ही सद्गुरु की महिमा का बखान करते हुए एक वैदिक ऋषि ने कहा है—

> गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु, गुरुर्देवो महेश्वर।
> गुरु साक्षात् पर ब्रह्म, तस्मै सद्गुरवे नम ॥

महत्त्व

भगवान से भी सद्गुरु का महत्त्व अधिक है। एक वैदिक ऋषि ने तो यहाँ तक कहा है—भगवान यदि रुष्ट हो जाय तो सद्गुरु बचा सकता है, पर सद्गुरु रुष्ट हो जाय तो भगवान की भी शक्ति नही जो उसे उबार सके।

पचिदिय-सवरणो, तह नवविह वभचेर गुत्तिधरो।
चउविह-कसाय-मुक्को, इअ अट्ठारस गुणेहि सजुत्तो ॥
पच-महव्वय जुत्तो, पचविहायार-पालण समत्थो।
पच समिओ तिगुत्तो, छत्तीस-गुणो गुरु मज्झ ॥

वस्तुत सद्गुरु का महत्त्व अपरम्पार है। दीपक को प्रकाशित करने के लिए जैसे तैल की आवश्यकता है, घड़ी को चलाने के लिए चाबी की जरूरत है, शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाने के लिए भोजन आवश्यक है वैसे ही जीवन को प्रगतिशील बनाने के लिए सद्गुरु की आवश्यकता है। सद्गुरु ही जीवन के सच्चे कलाकार हैं।

☆

साहित्य नया जीवन

साहित्य ने कोटि-कोटि मानवो मे प्रेरणा-प्रदीप जलाये हैं, हताश और निराश व्यक्तियो मे उत्साह और साहस का सचार किया है। चिन्ताओ से मुक्त कर नया जीवन प्रदान किया है। महात्माजी ने लिखा है—"कुछ पुस्तके मेरे जीवन की मार्ग दर्शिका बन गई जिसमे रस्किन की "अण्टु दिस लास्ट" सर्वप्रथम है।

साहित्य की अपूर्व शक्ति.

साहित्य मे जो शक्ति है वह तोप, तलवार, बन्दूक और आज के अणुअस्त्र मे भी नही है। साहित्य मानव के हृदय को बदल देता है।

भारतीय इतिहास मे नादिरशाह एक कठोरता की मूर्ति के रूप मे चित्रित किया गया है। वह बडा ही क्रूर प्रकृति का था। उसे भी साहित्य-कला ने मुग्ध कर दिया था। कहा जाता है कि नादिरशाह जब दिल्ली मे कत्लेआम कर रहा था उस समय दिल्ली के बादशाह शाह आलम के हाथ-पाँव फूल गये थे। नादिरशाह की क्रोधाग्नि मे नर-नारी जल-भुनकर खाक हो रहे थे। पर उस दावाग्नि को शान्त करने की सामर्थ्य किसी मे नही थी। जो भी नादिरशाह के सामने जाता वह तलवार के घाट उतार दिया जाता था। दिल्ली मे रक्त की नदी बह रही थी, नादिरशाह के सेनापति भी प्रस्तुत काण्ड मे दग थे पर किसी मे सामर्थ्य नहीं थी कि नादिरशाह के विरुद्ध एक शब्द भी कोई बोल सके।

दिल्ली के बादशाह का एक मन्त्री जो साहित्यिक था, जब उसने यह हत्या काण्ड देखा तो उसका हृदय रो पडा। वह अपनी जान को हथेली पर रखकर नादिरशाह के पास पहुँचा और उसने कहा—आपके प्रेम रूपी तलवार ने किसी को भी जीवित नही छोडा है, अब तो आपके लिए एक ही उपाय है कि आप मुर्दो को फिर जीवित करदे और उन्हे पुन मारना प्रारम्भ करदे।

> कसे न माद कि दीगर ब तेगे नाब कुशी।
> मगर कि जिन्दगी कुनी खल्का रा बाज कुशी॥

कहते है कि यह शेर सुनते ही नादिरशाह के विचार बदल गये और उसी समय हत्या-काण्ड बन्द करवा दिया।

एक तीर

और आमेर के महाराणा मानसिंह जो "शिला देवी" के यहाँ पर प्रतिदिन नर की बलि चढाते थे जिससे प्रजा परेशान थी, पर सम्राट को निवेदन करने का साहस किसी मे नही था। एक साहित्यकार से रहा नही गया। सम्राट [illegible] जब घूमने के लिए जा रहे थे तब उसने मार्ग मे रोककर उनसे कहा सम्राट, सिंह और कसाई है पर नरबलि देकर अपनी विजय-वैजयन्ती फहराने वाले तो [illegible]

साहित्य समाज का दर्पण है । साहित्य समाज के विचारो का सही प्रतिबिम्ब है । पाश्चात्य विचारक गेटे ने कहा है, 'साहित्य का पतन राष्ट्र के पतन का द्योतक है । पतन की ओर वे परस्पर एक-दूसरे का साथ देते है ।'

The decline of literature indicates the decline of a nation, the two keep pace in their downward tendency

उच्चस्तरीय साहित्य वस्तुत सास्कृतिक अनमोल निधि है ।

साहित्य और जैन समाज

आज जैन समाज का अन्य वस्तुओ के प्रति जितना प्रेम है उतना साहित्य मे प्रेम नही है । यही कारण है कि अन्य वस्तुओ मे जितना व्यय करते है उसका शताश भी साहित्य मे व्यय नही करते । जितना व्यसनो मे अपव्यय किया जाता है उतना न साहित्य के लिए खर्च करना पसन्द नही है ।

साहित्य प्रेम

अब्राहम लिंकन मे साहित्य पढने का शौक गजब का था । किन्तु उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नही थी, वे चाहते हुए भी अर्थाभाव के कारण पुस्तके नही खरीद सकते थे । अत माँग-माँग कर पुस्तके पढते । एक बार किसी व्यक्ति के पास अच्छी पुस्तक देखी, उसका मन उसे पढने के लिए छटपटाने लगा । उन्होने अत्यधिक अनुनय-विनय कर पुस्तक माँगी, पर उसने देने मे पहले तो इन्कार कर दिया । किन्तु जब उसने उनकी छटपटाहट देखी तो इस शर्त पर पुस्तक दी कि खराब न हो, इसका पूर्ण ध्यान रखना तथा शीघ्र लौटा देना । पुस्तक लेकर लिंकन घर आये, घर मे दीपक नही था, घर के सभी सदस्य सर्दी से बचने के लिए एक अगीठी मे अग्नि जला कर तापा करते थे । लिंकन उसी अगीठी के प्रकाश मे पुस्तके पढा करते थे । वे उस रात पुस्तक लेकर पढने बैठ गये, घर के सारे सदस्य सो गये और वे सारी रात पुस्तक पढते रहे । पुस्तक पूर्ण कर उसे जगले मे रख कर वे सो गये । सयोग-वश वर्षा आ गई और जगले मे रखी पुस्तक खराब हो गई ।

बालक लिंकन ने ज्यो ही उठकर देखा कि पुस्तक खराब हो गई है, वे रोने लगे । मन मे विचार आया कि किस तरह उन्हे ले जा कर दूँगा । वे क्या कहेंगे ।

आँखो मे आँसू बहाते हुए वे पुस्तक के मालिक के पास पहुँचे पर पुस्तक-मालिक खराब पुस्तक को लेने के लिए प्रस्तुत न हुआ और उसका मूल्य चुकाने के लिए उनके पास पैसे नही थे । अन्त मे पुस्तक मालिक ने यह निर्णय दिया कि तीन दिन तक खेत मे धान काट कर पुस्तक का मूल्य चुकाया किया जा सकता है । बालक लिंकन तैयार हो गया । वह घबराया नही । साहित्य प्रेम के कारण ही वह अपने जीवन के क्षेत्र मे निरन्तर आगे बढता रहा और एक दिन अमेरिका का लोकप्रिय राष्ट्रपति बन गया ।

जिसका खाना वहीं समाप्त हो जाता है उसका लेन-देन भी समाप्त हो जाता है, वैसे ही जिस समाज का साहित्य समाप्त हो जाता है वह समाज भी समाप्त हो जाता है। कहा भी है—'मुर्दा है वह देश जहाँ साहित्य नही है।'

साहित्य का प्रचार

आप विशिष्ट अवसरो पर अपने स्नेही-साथियो को अन्य वस्तुएँ उपहार मे देते है। धार्मिक उत्सवो पर भी उपहार दिया जाता है। यदि उपहार देने मे कुछ विवेक-दृष्टि रखी जाय, अन्य वस्तुओ के स्थान पर सद्साहित्य दिया जाय तो उसमे अनेक लाभ हो सकते है। एक तो वह जिन्हे दिया जायेगा उन्हे जीवन-निर्माण की दिव्य-दृष्टि देगा, दूसरा साहित्य का सुगमता से प्रचार-प्रसार होगा।

महावीर की पच्चीसौवीं जयन्ती

निकट भविष्य मे ही आर्यावर्त्त के महामानव भगवान श्री महावीर की पच्चीसौ वर्ष पूर्ण होने जा रहे है, उसे मनाने के लिए विविध दृष्टियो से चिन्तन-मनन किया जा रहा है। उसमे एक चिन्तन यह भी है कि सम्पूर्ण महावीर-वाणी उस मगलमय अवसर पर अद्यतन शैली मे सम्पादित होकर कलात्मक दृष्टि से प्रकाशित हो, तथा एक विराट महावीर-स्मृति-ग्रन्थ निकले, और उसके अतिरिक्त महावीर जीवन-दर्शन और उपदेश का मौलिक साहित्य निकाला जाय। मै समझता हूँ यह कार्य जैन समाज के लिए कोई कठिन नही है, यदि वह उधर लक्ष्य दे तो।

एक चिराग

आज के युग मे वही समाज और धर्म अपना अत्यधिक उत्कर्ष कर सकता है जो साहित्य की दृष्टि से समृद्ध है। ईसाइयो ने प्रेस व साहित्य के बल पर इतना प्रचार और प्रसार किया है। क्या जैन समाज ऐसा नही कर सकता? प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर उसे बोल कर नही किन्तु कार्य करके देना है। स्मरण रखियेगा—साहित्य समाज की आग है, एक ज्योति है, एक चिराग है, जो अन्धकार मे भी आलोक प्रदान करता है।

> नाहं धर्मफलाकांक्षी, राजपुत्रि चरामि भो।
> ददामि देयमित्येव, यजे यष्टव्यमित्युत ॥

कर्त्तव्य और साधना

जैन संस्कृति के तत्त्वस्पर्शीविज्ञों ने भी फल की कामना से किये जाने वा[ले] तप-जप, व्रत, नियम को जीवन का शल्य कहा है और कर्त्तव्य-दृष्टि से ही साध[ना] करने के लिए उत्प्रेरित किया है। कर्त्तव्य-दृष्टि से की जाने वाली साधना में ही स्व[र्ण] की तरह आभा प्रस्फुटित होती है।

इन्सान की परख

यह एक परखा हुआ तथ्य है कि तार के द्वारा वस्त्र की परख होती है, धार के द्वारा शस्त्र की परख होती है। नाम से नहीं अपितु कर्त्तव्य के द्वारा इन्सान [की] परख होती है।

पन्ना और आशाशाह

राजस्थान के इतिहास का सुनहला प्रसंग है—पुत्र-वत्सला पन्ना धा[य ने] कर्त्तव्य की बलिवेदी पर अपने लाडले लाल को चढा दिया। ज्योंही दुष्ट बन[वीर] उदयसिंह को मारने के लिए नंगी तलवार लेकर अन्दर घुसता है और पूछता है 'उदयसिंह कहाँ है ?' पन्ना को पहले से ही बनवीर के इस षड्यन्त्र का पता लग [गया] था, लेकिन वह वीराङ्गना घबराई नहीं। दुष्ट बनवीर को सिंह-गर्जना कर[के] फटकारा। आखिर उस कठोर कर्त्तव्य की घड़ी आ पहुँची। एक ओर उदयसिंह [की] रक्षा का प्रश्न था तो दूसरी ओर अपने इकलौते पुत्र की रक्षा का। दोनों में से [पन्ना] ने स्वामि-भक्ति के कर्त्तव्य पर डट रह कर अपना पुत्र जहाँ राजसी वेष में सोया था, उसकी ओर संकेत कर दिया। दुष्ट बनवीर ने एक ही प्रहार में फट से [उस] पन्ना के पुत्र को, उदयसिंह समझकर मौत के घाट उतार दिया। पन्ना यह दे[खकर] भी कर्त्तव्य की बलवती प्रेरणा के कारण रोई नहीं, सिसकी नहीं। उसने यह [illegible] कर्त्तव्य पूर्ण किया। उसके बाद उसके सामने उदयसिंह बड़ा न हो जा[ए] तब [तक] उसकी रक्षा का प्रश्न था। उसने कुछ सोचकर एक विश्वस्त सेवक के साथ [illegible] की टोकरी में उदयसिंह को सुलाकर, ऊपर से पत्ते ढक कर किसी तरह नगर से [बाहर ले जाने] के [illegible] को कहा। स्वयं भी बाहर जाने को तैयार हो गयी। पन्ना उदयसि[ंह को] कहीं न कहीं विश्वस्त पुरुष के यहाँ रखकर उसका लालन-पालन करना चाहती [थी] परन्तु दुष्ट बनवीर का आतंक चारों ओर फैल गया था। वह जहाँ भी शरण [लेने] गई, सभी ने अपने प्राण-भय के वश पन्ना धाय को टका सा जवाब दे दिया। वह [illegible] रास्ता घूमी, पहाड़ों में घूमी, कष्ट-सहन और [illegible] [illegible] भी उसने [illegible] [illegible]। अन्ततोगत्वा वह अरावली के दुर्गम पहाड़ों और ईडर के कूट-मार्गों को [illegible] [illegible] [illegible] पहुँच गई, जहाँ आशाशाह देपुरा नामक एक जैन किलेदार था। [illegible] [illegible] अपनी सारी आपबीती बताई और कहा कि 'अपने राजा [illegible]

नहीं होती। कर्त्तव्य में पार उतर जाना, कर्त्तव्य को पूर्ण कर देना ही उसके लिए इनाम है, पुरस्कार है, उसी में उसे आनन्द है। पन्ना धाय को किस पुरस्कार की इच्छा थी? राजा हरिश्चन्द्र को किस सम्पत्ति की अभिलाषा थी? उन्हें एकमात्र कर्त्तव्य पालन करने में ही आनन्द की अनुभूति होती थी। एक कर्त्तव्यपरायण वैद्य या डाक्टर को उसकी दवा से जब रोगी स्वस्थ होता है तो मन में आह्लाद उत्पन्न होता है। एक आचार्य को अपने शिष्य की सफलता देखकर मन ही मन प्रसन्नता उमड़ती है। पानी में डूबते हुए को बचा लेने पर तैराक को अपने कर्त्तव्य-पालन में प्रफुल्लता पैदा होती है। यह आनन्द उसी को अन्दर में होता है, जो कर्त्तव्य की परिसमाप्ति बिना स्वार्थ के करना जानता हो।

कर्त्तव्य और पुरस्कार

एक बार इटली की एक नदी में जोर की बाढ़ आ गई। नदी के उस पार दर्शकों की भीड़ जमा थी। नदी का पुल टूट गया था और सारा भूभाग जलमग्न हो गया था। केवल बीच का एक टीला बच गया था, जो जल में डूबा नहीं था। घरबार सब बेघरबार होकर सहायता के लिए पुकार रहे थे। भीड़ में से एक व्यक्ति ने कहा—'यदि कोई उस घर के सब मनुष्यों को बचा दे तो मैं सौ स्वर्ण मुद्राएँ पुरस्कार में दूँगा।' यह सुनकर एक युवा मल्लाह अपनी नाव उस घाट की ओर ले गया और सब को उस पर चढ़ा कर ले आया। उस पुरस्कारदाता ने सौ स्वर्ण मुद्राएँ देते हुए कहा—'तुमने बहुत साहस का काम किया है, लो यह अपना पुरस्कार!' पर उस कर्त्तव्यनिष्ठ युवा मल्लाह ने अपने हाथ खींच लिए और कहा—'मैं अपना पुरस्कार पा चुका हूँ। मुझे कर्त्तव्य-पालन में जो आनन्द मिला है, वह क्या कम पुरस्कार है? आप चाहें तो अपना धन बाढ़-पीड़ितों की सेवा में खर्च कर दीजिए।'

यह है पुरस्कार के प्रलोभन को ठुकरा कर कर्त्तव्य-पालन की जीती-जागती कहानी!

अधिकार और कर्त्तव्य

कर्त्तव्य का क्षेत्र क्रमशः विस्तृत से विस्तृततर और विस्तृततम होता जाता है। अपने कुटुम्ब से शुरू होकर वह जाति, गाँव, नगर, समाज, राष्ट्र, अन्य राष्ट्र, अन्य प्राणी इस प्रकार सारे विश्व तक कर्त्तव्य की सीमा विस्तृत है। मनुष्य को अपने सामने आए हुए कर्त्तव्य को सर्वप्रथम निभाना चाहिए। प्राचीन काल में समाज चार वर्णों में बँटा हुआ था और सबके अपने-अपने कर्त्तव्यों का वर्गीकरण किया हुआ था। केवल व्यवसाय की दृष्टि से नहीं, किन्तु कर्त्तव्य की दृष्टि से यह वर्गीकरण था। किन्तु आज व कर्त्तव्य-पालन की भावना प्रायः लुप्त हो गई है। गाँव और नगर वाले अपने नागरिक के कर्त्तव्य का परिज्ञान कर, अपने कर्त्तव्य की सीमा-रेखा का परिज्ञान कर लें, तो [illegible] नगर की बड़ी-सी समस्याएँ शीघ्र ही मिट सकती हैं, गाँव की [illegible] [illegible] हल हो सकती है। पर आज अधिकारों का युग है। प्र

सभी प्राणियों के प्रति जब आप मे कर्त्तव्य-पालन की भावना उमडेगी, विश्व के सभी प्राणियों के साथ किये जाने वाले व्यवहार को आप अपने आत्मा के दर्पण मे निरीक्षण करने लगेंगे तो आपके जीवन की कायापलट होते देर नही लगेगी। आपकी कर्त्तव्य-निष्ठा ही आपको अनेक संकटों से पार कर देगी। आपको संकट भी फिर उत्थान के सहायक और साथी जैसे प्रतीत होने लगेंगे। आपको विपत्तियाँ भी जीवन-संगिनी मालूम देगी। आपका दृष्टिकोण ही बदल जायगा। आप कर्त्तव्य की तपनपाती सड़क पर चलते हुए भी परम आनन्द का अनुभव करेंगे। सुख-सुविधाओं का प्रलोभन, प्राणों का मोह, और गरीबी का भय, आपको अपने कर्त्तव्य-पथ से विचलित नही कर सकेंगे। आपकी कर्त्तव्य-यात्रा मे किसी भी भयावनी या लुभावनी शक्ति का, विघ्नबाधा डालने का साहस नही होगा। आपकी इस सतत कर्त्तव्य-यात्रा मे आपकी विजय निश्चित होगी, सफलता सुन्दरी आपको अवश्य ही वरण करेगी और जीवन का शान्ति सौन्दर्य निखर उठेगा। फिर तो '**स्वे स्वे कर्मण्यभिरत संसिद्धि लभते नर**'—अपने-अपने कर्त्तव्यकर्म मे अभिरत मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता ही है—का वाक्य आपके जीवन का प्रेरक मन्त्र होगा, इस प्रकार कर्त्तव्य-यज्ञ मे आप अपनी आहुतियाँ देते रहेंगे तो एक दिन आपका जीवन ही सहज कर्त्तव्यमय बन जायगा। ऋषि के शब्दों मे '**कृतं मे दक्षिणे हस्ते, जयो मे सव्य आहित**' यदि मेरा कर्त्तव्य मेरे दाहिने हाथ मे है तो जय और सफलता अवश्य मेरे बायें हाथ मे होगी।'

☆

समय को एक बार भी आपने हाथ से निकल जाने दिया तो उसका पुन प्राप्त होना असम्भव है।

समय का चित्र

एक व्यक्ति ने एक प्रसिद्ध चित्रशाला मे प्रवेश किया। वहाँ उसे बहुत से चित्र दिखलाये गये। उसने देखा कि एक चित्र ऐसा है, जिसमे एक व्यक्ति का चेहरा काले बालो मे ढका हुआ है और उसके पैरो मे पख लगे हुए है। दर्शक ने आश्चर्य मुद्रा मे पूछा—"यह किस की तस्वीर है?" चित्रकार ने कहा—'यह अवसर की, समय के उस अमूल्य क्षण की तस्वीर है।' उसने पुन प्रश्न किया—'इसका मुँह क्यो छिपा हुआ है?' चित्रकार ने कहा—'क्योकि यह जब मनुष्यो के सामने आता है, तो वे इसे नही पहिचान पाते।' उसने दूसरी बात पूछी—'इसके पैरो मे पख क्या लगे है?' चित्रकार ने मुस्कराते हुए कहा—'यही तो खूबी है? क्योकि यह जल्दी चला जाता है, और जब एक बार चला जाता है तो इसको फिर कोई दुबारा नही पा सकता।'

सचमुच, समय का यह चित्र प्रत्येक मनुष्य के लिए प्रेरणादायक है। समय को हाथ से न जाने देने के बारे मे सभी विचारको ने बल दिया है।

समय की मूर्ति

किसी नगर के एक मूर्तिकार ने एक अनोखी मूर्ति बनाई और उसे दर्शको को दिखाने हेतु एक सार्वजनिक स्थान पर रख दिया। अद्भुत मूर्ति को देखने के लिए लोगो की भीड जमा हो गई। परन्तु यह क्या? मूर्ति के चेहरे के सामने बाल है, लेकिन पीछे से गुद्दी का भाग बिल्कुल गजा है। इसका रहस्य जब मूर्तिकार से पूछा गया तो उसने कहा—'जनाब, यह अवसर की मूर्ति है, जीवन के अमूल्य क्षण की मूर्ति है। यदि तुम आते ही इसके सामने के बालो को सहसा पकड लो तो पकड रह सकते हो, किन्तु यदि तुम आलस्य मे रहो और उसे एक बार भी भाग जाने दो तो फिर तुम तो क्या तुम्हारे देवता भी इसे नही पकड सकेगे। इसीलिए पीछे पकडने के लिए इसकी गुद्दी मे बाल नही है।'

वास्तव मे, समय की यह मूर्ति सारे समाज को एक चुनौती देने वाली है। यदि हम सारे समाज का कोई भी व्यक्ति समय की अवहेलना कर बैठे तो समय एक ऐसी ताकत है कि वह भागने देर नही लगाता। इसीलिए एक अंग्रेज विचारक ने समय के लिए एक उक्ति कही है—

'Time is money'

समय धन है

समय धन है—धन के निरर्थक चले जाने पर आप कितना अफसोस करते है, वैसा ही पश्चात्ताप आपको समय के व्यर्थ चले जाने पर होना है? तो ...

कर, समय की खूब अवहेलना कर रहे है । मिनिट ही नही, घटो, दिनो, सप्ताहो, महीनो और वर्षो का समय निरर्थक कामो मे व्यय कर देते है । उन्हे समय के नष्ट जाने का कोई पश्चात्ताप नही, समय के दुरुपयोग की कोई चिन्ता नही । व्यर्थ की गप्पो मे, लडाई-झगडो मे, विविध व्यसनो मे, मौज-शौक मे समय को बर्बाद कर देने मे वे नही चूकते । नीतिकार ऐसे व्यक्तियो को मूर्ख की कोटि मे गिनते है ।

> 'काव्यशास्त्रविनोदेन, कालो गच्छति धीमता ।
> व्यसनेन च मूर्खाणा, निद्रया कलहेन वा ॥

अर्थात्—बुद्धिमानो का समय काव्यो, शास्त्रो, जीवन की गूढ गुत्थिया को सुलझाने की चर्चाओ मे बीतता है जबकि मूर्खो का समय व्यसनो मे, निद्रा मे या लडाई-झगडो मे बर्बाद होता है ।

ऐसे लोग जो समय की कीमत नही जानते, अपने समय को यो ही बिता देते है और समय उनकी प्रगति को काट देता है ।

भारतवर्ष और समय

एक प्रोफेसर ने एक सज्जन से पूछा—"कहो, क्या हो रहा है ?" वह बोला—"कुछ नही, साहब, वक्त काट रहे है ।" प्रोफेसर साहब ने गंभीर मुद्रा मे कहा—"अरे, तुम क्या वक्त को काटोगे, वक्त ही तुम्हे काट रहा है ? और ऐसा काट रहा है कि कुछ ही दिनो बाद तुम्ही देखोगे कि तुम किसी मतलब के नही रहे।' प्रमाद-रूपी चोर मनुष्य के समय का अपहरण करने मे लगा हुआ है, उससे सावधान नही रहे तो हार है । एक समय की हार, अनन्त समय की हार है और एक समय की जीत, अनन्त समय की जीत है । किन्तु भारतीय लोगो मे समय को कौडी के भाव मे बर्बाद किया जाता है ।

नया सबक

इंग्लैण्ड मे किसी भारतीय सज्जन ने किसी से मार्ग पूछा । उसने बता दिया और उन भारतीय का नाम-पता पूछ कर नोट कर लिया । दूसरे ही दिन उनके पास उस पथ-प्रदर्शक ने अपने रास्ता बताने के समय का 'बिल' भेजा, जिसमे लिखा था—'रास्ता बताने के समय की कीमत दो पौंड !" उस भारतीय को बडा आश्चर्य हुआ । वह भागा-भागा वकील के पास उस बारे मे परामर्श करने गया । वकील ने भी उस बिल का चुका देने का समर्थन किया । आखिर भारतीय महोदय ने 'समय की कीमत दो पौण्ड' उसे चुका दिये और एक नया सबक लिया ।

पाश्चात्य लोग और समय

परन्तु भारत का यह हाल है कि यहा आपको मुफ्त मे मार्ग-दर्शक [illegible] जायेंगे । बिना फीस के आपको तरह-तरह की सलाह देकर अपना समय [illegible] [illegible] परामर्शदाता प्राप्त हो जायेंगे । किन्तु पाश्चात्य देशो मे [illegible]

पाबन्दी' बहुत कम सीखी। समय के पाबन्द न होने के कारण 'हिन्दुस्तानी टाइम' नाम से हिन्दुस्तानियों के समय को पहचाना जाता है। 'हिन्दुस्तानी टाइम' का मतलब ही यह होता है, नियत समय से पाव, आध घंटा देर से आना। वस्तुतः भारतीय जन-जीवन में यह सबसे बड़ी दुर्बलता है कि वे समय के पूरे पाबन्द नहीं होते। सभा-सोसाइटियों में वे नियत समय पर प्रायः नहीं पहुँचते, व्याख्यानों में काफी लेट आते हैं, या तब आते हैं जबकि कुछ समूह इकट्ठा हो जाता है, मानो समय का पालन करना वे अपना कर्त्तव्य ही न समझते हों। परन्तु पाश्चात्य देशों में आपको छोटे से छोटे समझे जाने वाले काम को करने वाला व्यक्ति भी समय का पाबन्द मिलेगा।

पाँच मिनिट

सेठ निहालसिंह नामक भारतीय सज्जन पेरिस की सैर करने गये। वहाँ उन्होंने मार्ग साफ करने वाले एक हरिजन का फोटो लेना चाहा। हरिजन ने अपनी घड़ी देखी और बोला—"मेरी ड्यूटी समाप्त होने में पाँच मिनिट बाकी है। उसके बाद आप चाहें तो मेरा फोटो ले सकते हैं।" सेठ साहब पर उस बात का बड़ा असर हुआ। उन्होंने सोचा—"पेरिस के हरिजन भी समय के इतने पाबन्द हैं कि प्रामाणिकता से ड्यूटी अदा करते हैं, अपने प्रत्येक कार्य को समय-क्रम के अनुसार करते हैं और यहाँ हमारे भारतीय लोग, जो समय को यों ही गपशप लड़ा कर नष्ट कर देते हैं?" इसीलिए जैनशास्त्र भी प्रत्येक साधक को पुकार-पुकार कर कह रहे हैं—

'काले कालं समायरे'

प्रत्येक कार्य या साधना उसके समय पर ही करो। समय-पालक बनो। समय पर ही उस कार्य को करने में स्फूर्ति, उत्साह और आनन्द रहता है। समय उस बर्फ की चट्टान के समान है, जिस पर चलने में थोड़ी-सी असावधानी से मनुष्य फिसल सकता है, किन्तु भारतीय लोग उसे संगमरमर की चट्टान समझने की गहरी भूल कर रहे हैं।

गांधीजी व समय

पाश्चात्य सभ्यता की अन्य भली-बुरी देनों में से 'समय की पाबन्दी की देन' भी महत्त्वपूर्ण देन है और उसकी शिक्षा हमें विदेशी लोगों से लेने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए। पं० जवाहरलाल नेहरू, महात्मा गांधी आदि चोटी के राष्ट्र-नेताओं ने अंग्रेजों से समय-पालन की शिक्षा काफी ली थी। महात्माजी तो समय-पालन के पक्के उस्ताद थे। महात्मा गांधी समय-पालन के लिए अपने साथ बराबर एक जेब घड़ी रखा करते थे। घड़ी रखने का उनका उद्देश्य केवल यही नहीं था कि समय का ज्ञान होता रहे, बल्कि यह भी था कि जो लोग उनसे मिलने आते, वे निर्दिष्ट समय से एक मिनिट भी अधिक न ले सकें। सुप्रसिद्ध अमेरिकन पत्रकार

'कलि शयानोभवति, सञ्जिहानस्तु द्वापर ।
उत्तिष्ठन्त्रेता भवति कृत सम्पद्यते चरन् ॥

अर्थात्—जब मनुष्य अज्ञान की काली चादर ओढ कर मोह की गहरी नींद में सोया रहता है तो वह कलियुग है, जब वह अन्तर्जागरण की अंगडाई लेकर सत्य ज्ञान के प्रकाश में आँखें खोलता है तो वह द्वापर है, जब वह सत्य मार्ग पर चलने के लिए तन कर खडा हो जाता है तो वह त्रेता है और जब वह दृढता के साथ सत्य मार्ग पर चल पडता है तब जीवन का सतयुग है।

इसलिए काल अपने आप में कुछ नहीं है। मनुष्य के मन, वाणी और काया पर ही अच्छाई या बुराई निर्भर है।

समयज्ञ बनो

समय अपना काम करता है, मनुष्य को अपना काम करना है। प्रकृति के सभी पदार्थ—ऋतुएँ, मास, पक्ष, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे आदि अपने-अपने समय पर आते हैं और चले जाते हैं। सर्दियों में सर्दी पडती है और गर्मियों में गर्मी। परन्तु जो मनुष्य इन अलग-अलग ऋतुओं या मास आदि को पहिचान लेता है और इनके अनुसार अपनी व्यवस्था कर लेता है, इनके साथ अपनी सगति बिठा लेता है, जीवन-गति बना लेता है, उस पर इनका कोई खास प्रभाव नहीं होता, यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं। किन्तु जो मनुष्य विवेकहीन होकर इन्हें नहीं पहचान कर अपनी जीवन-सगति नहीं बिठाता है, उन पर ये हावी हो जाते हैं, अपना प्रभाव भी डालते हैं। जो उच्च कोटि के सामर्थ्यशील और विवेकी, वीतरागी एव मनोबली पुरुष हैं, वे इनके साथ सगति न बिठाएँ तो भी चल सकता है, उनके प्रबल मनोबल पर इनका कोई असर नहीं पडता। वे इन सब पर आधिपत्य जमाये हुए होते हैं।

जैनागमों में साधक के लिए यह आदेश है कि वह प्रत्येक कार्य **'काले काल समायरे'** और उसके लिए समयज्ञ होना भी आवश्यक है। 'कालन्ने' कह कर इस ओर सकेत किया है। जो साधक समय की अवहेलना करता है वह **'कालस्स आसायणाए'** काल की आशातना करता है। जो विचक्षण है वह द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव के अनुसार ही प्रवृत्ति करते हैं। कहा है—

'वर्तमानेन कालेन प्रवर्तन्ते विचक्षणा '

हाँ, तो समय जीवन का अमूल्य धन है। समय का जीवन से व्यवहार में कैसा व किस प्रकार उपयोग करना चाहिए, समय के सदुपयोग से जीवन में किस तरह चमक-दमक आती है, इस पर सक्षेप में चर्चा की गई है। समय का यदि आप नहीं सदुपयोग किया तो जीवन चमक उठेगा।

हार और जीत

जो मनुष्य मन को अपने वश मे कर लेता है, मन-मातंग पर अपना अंकुश लगा देता है, वह जीवन के सभी मैदानो मे विजय पाता है। जीवन के किसी भी क्षेत्र मे उसकी हार नही होती। क्योंकि जीवन के रणक्षेत्र मे मन ही सबसे बड़ा योद्धा है, सेनापति है, बाकी सभी ज्ञानेन्द्रिया और कर्मेन्द्रियाँ उसकी आज्ञा मे चलने वाली सेना है। अगर मन-रूपी सेनापति हार गया, जीवन के मैदानो मे उसने विकारो और वासनाओ के सामने हथियार डाल दिये तो सारी सेना की हार है, आत्मा-रूपी राजा की भी वह हार समझी जायेगी और अगर मन-रूपी सेनापति जीवन के युद्धक्षेत्र मे डट कर लड़ता रहा, विकारो और वासनाओ से, और क्षणभर भी उसने असावधानी नहीं की तो समझो, उसकी जीत है और उसकी जीत के साथ ही उसके आत्मा-रूपी राजा की भी जीत समझी जायेगी। कहा भी है—

'मन के हारे हार है मन के जीते जीत'

जीवन कुरुक्षेत्र है

जीवन के कुरुक्षेत्र मे किसी भी शुभ कार्य को करते समय भी अगर मन हार गया, मन निराश हो गया और मन ने उसके करने मे जवाब दे दिया तो समझिए उस कार्य मे आपको सफलता के दर्शन नही होगे और यदि मन उस कार्य मे अन्त तक साथ जुटा रहा, मन ने अपना सहयोग पूर्णरूप से दिया, मन ने निराशा और हताशा नही दिखाई तो समझिए आप उस कार्य मे सफल होगे। सफलता सुन्दरी आपके गले मे वरमाला डाल देगी।

मन का खेल

सारा ससार आज मन के खेल पर निर्भर है। अगर मनरूपी मदारी ने अच्छे खेल दिखाए तो सारा ससार आपकी ओर आकृष्ट हो जायगा, सारा ससार आपके वश मे हो जायगा और यदि मन-रूपी मदारी ने बुरे खेल दिखाए, क्रीडाभूमि मे उल्टी क्रियाए की तो ससार आपसे दूर भागेगा, ससार को आप वश मे नही कर सकेंगे।

मन की देन

सारा ससार मन ही का तो रचा हुआ है? मन ने ही तो ससार के बड़े-बड़े काम किये है? ससार के अच्छे-बुरे, सुन्दर-असुन्दर कार्यों, गतिविधियो और क्रियाकलापो का निर्माता मन ही तो है। मन ने ही तो अपना जीवन-महल खड़ा किया है चाहे अच्छा किया हो या बुरा। ससार मे आज जितना विकास हुआ है, मानव ने इस ससार मे जो भी आशातीत प्रगतियाँ की है, जितने बड़े-बड़े गौरवशाली कार्य सम्पन्न हुए है, सब मन की ही देन है। और साथ ही ससार को विनाश-लीला की ओर ले जाने के लिए युद्ध, झगड़े, सघर्ष, व्यभिचार, अनाचार, अत्याचार, अन्याय, एव कलह आदि जितने भी तबाही के कार्य हुए है, वे भी मन की ही देन है।

श्रेणिक श्रमणशिरोमणि भगवान महावीर के दर्शनो के लिए उसी मार्ग से होकर चला जा रहा है। बीच मे ही उसकी दृष्टि राजर्षि पर पडी। उनकी अडिग साधना को देखकर राजा का हृदय श्रद्धा से भर गया, उनका मस्तिष्क मुनि के चरणो मे गिर गया। वे सीधे भगवान महावीर के समवसरण (परिषद्) मे पहुँचे, उन्हे वन्दन किया और मानस-पटल पर जिन राजर्षि की साधना के चलचित्र अंकित थे, उनके सम्बन्ध मे प्रश्न किया—'भगवन ! यदि प्रसन्नचन्द्र राजर्षि उस समय आयुष्य पूर्ण करे तो कहाँ जाएँ ?' महावीर ने मधुर स्वर मे कहा—'राजन् ! सातवी नरक मे।' 'क्या कहा भगवन्, सातवी नरक मे ? मेरे कानो को विश्वास नही हो रहा है ! ऐसा उत्तम साधक और सातवें नरक मे जायेगा तो फिर हम जैसे वासना के कीडे कहाँ जायेंगे ?' उनका मन समाधान नही पा रहा था, अत अकुलाते मन मे पुनः प्रश्न किया—'भगवन् ! अब उनकी मृत्यु हो तो ?' 'प्रथम नरक !' महावीर ने सम्राट् को उत्तर दिया। अभी उनके मन का पूर्णतया समाधान नही हुआ था। कौतूहल और जिज्ञासा के हिंडोले में डोलते हुए उन्होने पुन वही प्रश्न दुहराया तो भगवान ने कहा—'अब वे स्वर्ग के पथिक है, प्रथम स्वर्ग के।' श्रेणिक अभी कुछ सोच ही रहे थे कि अचानक आकाश मे देव-दुदुभियो का निनाद सुनाई दिया। श्रेणिक ने पुन निवेदन किया—'भगवन्, यह असमय मे दुदुभियो का निनाद क्यो ?' भगवान बोले—'सम्राट् ! यह प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन हो गया है, उसी की घोषणा देवगण दुदुभिया गडगडा कर रहे है।' श्रेणिक ने विस्मित मुद्रा मे कहा—'भगवन् ! मैं समझ नही सका यह पहेली ! कुछ मिनिटो पहले सातवी नरक, और अभी कैवल्य ? जरा, इस समस्या का स्पष्ट समाधान करे, तो श्रेयस्कर है।'

करुणामूर्ति महावीर कहने लगे—"श्रेणिक, जिस समय तुम राजर्षि को वन्दन कर मेरे पास आये थे, उस समय उनका तन तो मुनि साधना मे था, पर उनका मन अन्यत्र ही गति कर रहा था। वह उस समय भीषण सहार के लिए उछल-कूद कर रहा था। तुम्हारे आगे-आगे उसी राह मे गुजरते हुए दो व्यक्ति यो बातें करते जा रहे थे कि 'देखो, कैसा ढोगी बना है, यह साधु ? अपने नन्हे पुत्र पर राज्य का भार डाल कर स्वय साधु बन गया और उधर शत्रुओ ने मौका देखकर उस पर आक्रमण कर दिया। अब वह बालक राजा शत्रु की विशाल सेना से घिर गया है और उसका राज्य तो विपत्ति ग्रस्त बना हुआ है। अब तो वहाँ शत्रु ही मौज उडायेगे ? इन्होने बच्चे को राज्य सौंपकर भारी अन्याय किया है !' ये शब्द राजर्षि के कानो मे टकराये और उनके मन मे उन आक्रान्ताओ के प्रति विद्वेष की आग भडक उठी। मन मे क्षत्रिय का शौर्य-तेज हुकारने लगा और मन युद्ध के मोर्चे पर जा डटा। दोनो ओर शस्त्रास्त्रो के भीषण प्रहार हो रहे थे। कषाय की तीव्रतम ज्वाला मे राजर्षि का मन झुलसने लगा और यह वही क्षण था, जिस समय तुमने सर्वप्रथम प्रश्न किया था तब मैंने उनकी मन स्थिति को टटोलते हुए सातवी नरक का उत्तर दिया था। उस समय उनका तन साधना मे था, परन्तु मन रणभूमि मे, युद्ध के मोर्चे पर था। युद्ध मे

सूझबूझ और नियन्त्रण की शक्ति रखता है तो राजा का कार्य व्यवस्थित चलता है। और अगर मन्त्री खराब हो जाता है, उसके विचार व्यवस्थित नही रहते है, वह अपने आप मे कोई सूझबूझ या नियन्त्रण की शक्ति नही रखता है तो राजा का काम गड़बड़ हो जाता है। राजा अपनी इच्छानुसार राज्य का सचालन होते नही देख सकता है। और आखिर मन मन्त्री के झांसे मे आकर आत्मा राजा भी चौपट हो जाता है, मानव जीवन का राज्य खो बैठता है और इधर से उधर विविध योनियो मे भटकता है।

मन मन्त्री के इशारे पर ही इन्द्रियाँ सेविका बन कर चलती है। मन ने जहाँ उन्हे रोक दिया, वही वे रुक जायेगी और जिस प्रकार नचायेगा, नाचेंगी। क्योंकि कहा भी है—

"इन्द्रियेभ्य पर मन"

अगर मन अपने आप मे स्वस्थ और सुन्दर विचार करता है तो इन्द्रियाँ भी सुव्यवस्थित रहेगी, जीवन की मधुरता का आनन्द मनुष्य प्राप्त कर सकेगा और अगर मन ही बुरे विचारो की गन्दी नालियो मे बहने लगेगा, विपरीत दिशा का चिन्तन मनन करेगा तो इन्द्रियाँ भी विपरीत दिशा मे चलेगी, शरीर भी बर्बाद होगा और जीवन का सच्चा आनन्द मनुष्य को प्राप्त नही हो सकेगा।

हाँ, तो इस प्रकार मन का स्थान हमारे शरीर मे सर्वोपरि है। आत्मा अगर उस पर ठीक ढग से अनुशासन रखे तो 'मन' उसे अभूतपूर्व ऊँचाइयाँ प्राप्त करा सकता है।

मन का दर्शन या साक्षात्कार हमे चर्म-चक्षुओ से नही होने वाला है, दिव्य दृष्टि से ही मन का साक्षात्कार किया जा सकता है। कहा जाता है—बाह्य मन की क्रिया का कुछ-कुछ भास या प्रतिच्छाया मनोविज्ञान-विशेषज्ञ फोटो लेकर पाने लगे है।

हाँ, तो मै आपसे कह रहा था कि स्थूल मन भी इन स्थूल नेत्रो से देखा नही जा सकता है। मन पर्यायज्ञानी पुरुष मन के मूर्त्त पर्यायो, मन की गतिविधि को अन्तर्दृष्टि मे अवलोकन कर सकते है, साधारण ज्ञानी नही। हाँ, मनोविज्ञानशास्त्री अनुमान से मन की वृत्तियो का कुछ अन्दाजा लगा सकते है, मन की सारी हलचल को वे सम्यक्तया नही जान सकते।

मन की परिभाषा भारतीय दार्शनिको ने यह की है—

'सकल्पविकल्पात्मक मन'

मन सकल्प-विकल्प रूप है

विचारो की उधेड़बुन करते रहना मन का स्वभाव है। मन का स्वभाव है मनन करना है, इसीलिए उसे शरीर मे उचित स्थान पर नियुक्त किया गया है। 'मननात् मन' मनन करने की वजह से ही मन कहा गया है। वह तो हर घड़ी हर

आइग्लास मे केन्द्रित होती है तो चिनगारी फूट निकलती है। यही बात मन की साधना के सम्बन्ध मे है। आप उसकी शक्ति को केन्द्रित करे। योगियो ने योग का अर्थ ही मन को, चित्तवृत्ति को दूसरी सब जगहो से हटाकर परमात्मा या शुद्ध आत्मा मे जोड देना बतलाया है। यह मन की शक्ति को परमात्मा मे केन्द्रित करना ही तो है। जब मन अपनी शुद्ध आत्मा या परमात्मा मे लीन हो जाता है तो उसकी वृत्तियाँ बिखरती नही। यह मन की वास्तविक साधना है।

एकाग्रता

शक्ति को बिखेरना असफलता को न्यौता देना है। मन की शक्तियो को एकाग्र करके ही आप बडे से बडे कार्य कर सकते है, किन्तु शक्ति के बिखर जाने पर आप किसी भी काम मे पूरी सफलता नही पा सकते। आपका मन स्थिर नहीं रह सकेगा—किसी एक ही चीज पर वह भटकता रहेगा, उसे कही शान्ति और तृप्ति नहीं मिलेगी।

डॉ० एस० टी० कॉलरिज मे गजब की प्रतिभा थी। वह माना हुआ साहित्यकार था, अपने जमाने का। किन्तु, उसके सामने हमेशा एक नया निश्चय या नया विचार खडा हो जाता। वह अपने मन को किसी एक मे स्थिर नही रख पाता था। फल यह हुआ कि जब वह इस संसार से विदा हुआ तो उसकी फाइलो मे ४० हजार निबन्ध निकले, किन्तु दुर्भाग्य से वे सब अधूरे थे। उनमे से एक भी निबन्ध पूरा नहीं था, क्योकि मन शक्ति पर उनका कन्ट्रोल नही था। वे जब लिखने बैठते तो उनके मन मे कोई न कोई दूसरा विचार आता कि वे उस ओर चल पडते। वह निबन्ध वहीं पडा रह जाता और नया निबन्ध लिखने को कलम दौड जाती थी। इस प्रकार वे ४० हजार निबन्ध भी अस्थिरता मे लिखे गये थे।

मन की स्थिरता

जहा मन की स्थिरता नही होती, शक्तियाँ बिखर जाती है, वहाँ चचलता के कारण किसी भी काम मे कामयाबी नही होती। एक किसान ने अपने खेत मे एक कुआँ खोदा। पच्चीस हाथ तक खोदने पर भी जब पानी न निकला तो उसका विचार पलटा कि चलो, यहाँ तो पानी नही है, दूसरी जगह खोदे। दूसरी जगह भी जो गड्ढा खोदा, वह पच्चीस हाथ तक पहुँचा पर वहाँ भी पानी न मिला। कुछ फासले पर फिर उसने तीसरा कुआँ खोदना शुरू किया, उसे भी पच्चीस हाथ खोदकर छोड दिया। चौथे स्थान पर पच्चीस हाथ गहरा खोदने पर भी सफलता न मिली। अगर वह पच्चीस-पच्चीस हाथ के चार कुएँ न खोदकर एक ही स्थान पर सौ हाथ गहरा खोदता तो उसे पानी अवश्य मिल जाता। पर उसकी मानसिक चचलता ने उसे ऐसा नहीं करने दिया। मन की चचलता ही असफलता की जड है।

मन बानर है

मन एक चचल बानर की तरह है, उसे किसी अच्छे काम मे केन्द्रित नहीं किया तो वह अंगूर के बागों मे शोर मचायेगा। किसी बानर को एक [illegible]

मनोनिग्रह का उपाय

एक बार सम्राट सेन करुणावतार महात्मा बुद्ध की सेवा मे पहुँचे और उनसे मनोनिग्रह का उपाय पूछा। उन्होने कहा कि—"मै राजा हूँ। मुझे साधना के लिए इतना अवकाश नही कि मै प्रतिदिन होने वाले प्रवृत्ति मार्ग से बिल्कुल हटकर निवृत्ति मार्ग को अपना सकूं, क्योकि मुझ पर राज्य सचालन का उत्तरदायित्व है। मुझे तो ऐसी साधना बताये आप जिससे राज्य का दायित्व निभाते हुए मन की निरकुशता और अनेकाग्रता को दूर किया जा सके।"

आप भी शायद ऐसा ही चाहते होगे कि घर भी न छोडना पडे, ऑफिस भी अच्छी तरह चलता रहे, दूकान का काम भी करते चले जाय और मन को भी साधते चले।

महात्मा बुद्ध ने शान्त वाणी म कहा—"सम्राट, ऐसी भी साधना है जिसके द्वारा मनुष्य अपने उत्तरदायित्व को निभाते हुए भी मन पर विजय पा सकता है, मनोनिरोध कर सकता है। वह है चार प्रकार का मनन–(१) मै जराधर्मी हूँ, (२) मै वियोगधर्मी हूँ, (३) मै रोगधर्मी हूँ, और (४) मै मरणधर्मी हूँ। अगर मन का मनन इन चारो बातो पर चलता रहे तो वह उस पर काबू पा सकता है।"

हाँ, तो आप समझ ही गये होगे, इन चारो बातो को। इस समय इन चारो बातो पर विशद रूप से विवेचन करने का अवकाश नही है। फिर भी उपर्युक्त कहानी मे मन को सही दिशा मे मोडने का सुन्दर उपाय बतलाया है और यह उपाय गीता और योगदर्शन द्वारा निर्दिष्ट वैराग्य के अन्तर्गत आ जाता है।

जैन-धर्म के आचार्यो ने प्राथमिक मन साधना के लिए आनुपूर्वी, पश्चानुपूर्वी एव अनानुपूर्वी के द्वारा परमेष्ठिस्मरण का उपाय बतलाया है, जिसे आप जानते ही है। यह भी मन को केन्द्रित करने का एक उपाय है। किन्तु उच्च साधक के लिए तो मनोनिरोध, मन की शक्ति को सही दिशा मे, वैराग्य की दिशा मे लगाना और उसका भी मनन अभ्यास करना ही श्रेष्ठ उपाय है।

आप वैराग्य का नाम सुनकर चौंक पडे होगे कि कही साधु तो नही बनना पडेगा! सचमुच, आज वैराग्य शब्द को साधुओ के लिए रिजर्व करके साधारण विचारको ने बहुत बडी भूल की है। वैराग्य केवल साधुओ के लिए ही नही है, किन्तु वह प्रत्येक साधक के लिए है, फिर वह चाहे साधु हो या गृहस्थ। क्या साधु को ही भूख लगती है, गृहस्थ को नही ? जब भूख दोनो को लगती है तो जीवन-निर्माण की भूख भी दोनो को लगनी चाहिए। साधु के चोट लगने पर साधु भी मरहमपट्टी करता है वैसे ही गृहस्थ भी करता है। तब फिर आध्यात्मिक चोट केवल अकेले साधु के ही क्यो, गृहस्थ के भी तो लगती है, और उसकी मरहमपट्टी गृहस्थ को भी करनी चाहिए।

तुरन्त बीच का पर्दा हटा दिया और रोमन चित्रकला की सारी सुन्दरता की परछाई उस चीनी दीवार पर पड़ी । इतना ही नहीं, चीनी कलाकारों ने ऐसी अद्भुत पालिश दीवार पर की थी कि परछाई असली तस्वीर से भी कहीं अधिक खूबसूरत लगी। उसकी जगमगाहट के सामने रोमन तस्वीर फीकी पड़ गई । राजा देखकर दंग रह गया और घंटों उस दीवार को देखता रहा ।

हाँ, तो इसी प्रकार अगर हम शरीर को रंग-रोगन, पाउडर, क्रीम आदि से सजाने और चित्रित करने के बदले आत्मा-रूपी दीवार पर मन को शुद्ध, परिष्कृत और Polished करते हैं तो सारे संसार की आध्यात्मिक सुन्दरता हमारी आत्मा में चित्रित हो जायगी, प्रतिबिम्बित हो जायगी । हमें बाह्य सौन्दर्य-प्रसाधन की और आडम्बर की जरूरत ही न रहेगी । योगीश्वर आनन्दघनजी ने यही तो कहा है—

मन साध्यु तेने सघलु साध्यु, एह बात नहीं खोटी।
एम कहे साध्यु, ते नवि मानु, एक हि बात छे मोटी हो ॥
—कुन्थुजिन०

जिसने मन को साध लिया, उसने सब कुछ साध लिया । 'जितं जगत् केन ? मनो हि येन' 'जगत् को किसने जीता है ? जिसने मन को जीत लिया उसी ने' यह बात भी अक्षरशः सत्य है ।

मन को साधने के लिए अभ्यास और वैराग्य द्वारा आसक्ति पर प्रहार कीजिए। मन पर मलिनता की जो तह जम गई है, मल, विक्षेप, रागद्वेष आदि कई दोषों की काई जम गई है, उसे दूर कीजिए । मन को शुभ विचारों में रमाने के लिए उसे एकाग्र कीजिए, अपनी चित्त-वृत्तियों को स्थिर कीजिए । स्थिर पानी में जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह साफ दिखाई देता है, हिलते हुए पानी में नहीं । इसी प्रकार स्थिर मन में ही जगत् के शुद्ध विचारों का प्रतिबिम्ब पड़ सकता है । मन को बुरे विचारों से हटाकर अपने जीवन के उद्देश्य में, ध्येय में जोड़ देना ही योग है, चित्तवृत्ति-निरोध है। विशालकाय हाथी को भी छोटा-सा अंकुश वश में कर सकता है तो क्या ज्ञान का अंकुश मन को वश में नहीं कर सकेगा ।

हाँ, तो आप निश्चिन्तता से मन के दीपक में श्रद्धा की बत्ती और सद्विचारों का तेल डाल कर उसे जलाइये और प्रतिक्षण यह देखते रहिए कि कहीं वासना की वायु का झोंका उसे बुझा न दे । बस, यही सावधानी आपको रखनी है । मन के वश होने की निशानी ही यही है कि वह वासना के झोंके से बुझे नहीं, सतत प्रकाशमान रहे । पर इसके लिए निरन्तर साधना की आवश्यकता है । निरन्तर आप साधना करते रहें, फिर मन आपका स्वामी न होगा, आप मन के स्वामी होंगे और साधना सार्थक होगी ।

खाना-पीना हराम हो जायगा, नींद उड़ जायगी, वह पागल-सा बना फिरेगा और वह कुछ कहीं करने को तैयार हो जायगा, परन्तु उसे चाहिए सुरक्षा की गारण्टी, मौत से बचाव का उपाय। परन्तु हम देखते हैं कि मृत्यु अवश्यम्भावी है। वह जब आती है तो मन्त्रबल, यन्त्रबल, तन्त्रबल, जनबल, धनबल और अस्त्रबल सभी बेकार हो जाते हैं किसी का उसके सामने वश नहीं चलता। सभी निरुपाय हो जाते हैं। कहावत भी है—

'काल वेताल की धाक तिहुँ लोक में'

मृत्यु का भय

मृत्यु का साक्षात् दर्शन तो दूर रहा, मृत्यु का नाम सुनते ही मनुष्य के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मृत्यु का भय भी मनुष्य को चौंका देने वाला बन जाता है।

पुराण में आलंकारिक भाषा में मृत्यु-भय के विषय में एक सुन्दर कथा का निरूपण किया गया है—

एक बार यमराज ने अपने दूतों को बुलाकर कहा कि मुझे ४०० मृत प्राणियों की आवश्यकता है, मृत्युलोक में जाकर शीघ्र ले आओ। दूत आदेश पाते ही ४०० मनुष्यों को मारने के लिए व्याधियों आदि के संहारक अस्त्र-शस्त्र लेकर मृत्युलोक में पहुँचे। उनका कार्य शीघ्र ही सफल हुआ और वे ४०० के बदले आठ सौ मृत प्राणियों को लेकर पहुँचे। यमराज ने बिगड़ कर उन्हें इतने अनावश्यक व्यक्तियों को लाने का कारण पूछा तो दूतों ने कहा—"हम तो चार सौ व्यक्तियों को मार रहे थे, लेकिन चलते समय हमें ज्ञात हुआ कि बाकी के ४०० व्यक्ति उस मृत्युकाण्ड से भयभीत होकर अपने आप मर गये हैं। अतः हमें उनके प्राणों को भी लाना पड़ा।" कथा का मर्म यही है कि मौत के भय से प्रकम्पित होकर बहुत से मनुष्य मर जाते हैं तो साक्षात् मौत सामने आकर खड़ी हो जाय तो कहना ही क्या?

क्या मृत्यु इतनी भयानक है, इतनी खतरनाक है कि मनुष्य उससे डर जाय? क्या मृत्यु इतनी असह्य वेदना है, जिसकी तुलना संसार में किसी भी वेदना से न की जा सके? क्या मृत्यु इतनी दारुण दुःखप्रद है कि मनुष्य उसे सह न सके? या मृत्यु का भय भूत के भय की तरह काल्पनिक है, तर्क के हथौड़े की चोट मारकर क्या मृत्यु का भय भग नहीं हो सकता? क्या मृत्यु यों ही भयावनी लगती है, इसका स्पष्ट सुन्दर दायाँ नहीं है?

मृत्यु क्या है?

भारतीय तत्त्वचिन्तकों ने जितना जीवन पर गहराई से विचार किया है उतना ही बल्कि उससे भी अधिक मृत्यु और उसके बाद की अवस्थाओं के बारे में विचार किया है। मृत्यु पर उनका किया गया अनुभव-सगत विश्लेषण मानव को वास्तविक तत्त्व से परिचित करा देता है और उपर्युक्त सभी प्रश्नों के उत्तर उनके सुनिश्चित और स्पष्ट विश्लेषण में आ जाते हैं।

अच्छी चीज भी हो सकती है। मैं उससे डरने वाला नहीं। जो बुरा है, उसकी और
जो अच्छा है, उसी को मैं पसन्द करूँगा।" एथेंस की राजसभा ने उन्हें विषपान की
सजा दी। सजा बहुत कठोर थी, निर्दोष पर अन्याय था, किन्तु वे मृत्यु से घबरा
नहीं। मृत्यु को टाल कर सत्य को मारना उन्हें पसंद नहीं था। आप विष के प्याले
हाथ में लेकर प्रसन्नता से पान कर गये और सदा के लिए आँखें मूँद लीं।

ईसामसीह

प्रेम-सिन्धु ईसामसीह भी अपने आदर्श के लिए बलिदान हो गये थे। अपनी
मृत्यु से पूर्व रात्रि को ईसा अपने बारह शिष्यों के साथ भोजन करने बैठे थे। उन्होंने
अपनी पत्तल में से एक ग्रास उठाकर शिष्यों की ओर देखकर कहने लगे—"प्यारे
शिष्यो, तुम में से एक व्यक्ति मुझ पर क्रुद्ध हो गया है।" गुरु के वचन से सबको
आश्चर्य हुआ। सब एक-दूसरे के मुह की ओर देखने लगे। प्रत्येक का हृदय गुरु-भक्ति
से पूर्ण था। प्रत्येक ने करुण स्वर से पूछा—"क्या मैं हूँ?" ईसा ने उनकी ओर
प्रेम-पूर्ण दृष्टि डाल कर कहा—"नहीं, मैं जिसके मुह में ग्रास दूँ वह।" ईसा उठ
कर वे एक शिष्य के पास गये, जो शत्रुओं से मिल गया था और रात को ही उन
को उन्हें सौंपने की साजिश कर चुका था, उसके मुह में ग्रास दिया। उस हृदयहीन
को कोई विचार नहीं आया। ईसा ने उसकी पीठ पर हाथ फेर कर कहा—'तुम्हारा
वचन होने आया है, काम पर जा।" वह वहाँ से चल पड़ा, लेकिन उस नराधम का
हृदय नहीं पिघला। वह ईसा के विरोधियों के पास गया, पूर्वयोजित षड्यन्त्रानुसार
हथियारबन्द सिपाहियों को लाकर ईसा को पकड़वा दिया। ईसा ने उस समय भी
यहूदा को क्रोध-दृष्टि से नहीं देखा और क्षमापूर्वक उस पर नजर डाली। जब
गुरु को हथियारबन्द सिपाहियों से पकड़े देखकर एक शिष्य ने बहुत क्रुद्ध होकर ए
सिपाही का कान काट लिया। तब ईसा ने उससे कहा—"अरे, हाथ वापिस लौटा
तलवार चलाने वाले तलवार के ही शिकार हो जाते हैं।" उसके बाद ईसा को न्यायालय
में लाया गया, जहा रोमन अधिकारियों ने उन्हें निर्दोष ठहरा कर मुक्त कर दिया।
लेकिन यहूदी लोगों को यह न्याय पसंद नहीं आया। उन्होंने ईसा की मनमानी सजा
उतारी शुरू की और फिर उन्हें क्रास पर चढ़ा कर उनके हाथ-पैरों में कीले ठोंक दी।
मरते समय भी उस पुण्य-पुरुष ने शत्रुओं को आशीर्वाद दिये, क्षमा प्रदान की और
हँसते-हँसते प्रसन्नभाव से वह अपने आदर्श के लिए बलिदान हो गया।

कर्त्तव्य के लिए

मृत्यु की कला जिसको आ जाती है, वह अपने कर्त्तव्य के लिए इस दुनिया में
जीता है और कर्त्तव्य के लिए मर मिटता है। हजारों देशभक्त देश के लिए कुर्बान हो
जाते हैं। उन्हें मृत्यु का भय नहीं सताता, उन्हें मृत्यु का मोह छू सकता नहीं
वे अपने ध्येय के लिए शहीद हो जाते हैं। सरदार भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद
... वीर आदि क्रान्तिवीर इसी प्रकार स्वदेश भक्ति से प्रेरित होकर मर मिटे। ...

कितनी पवित्र है, कितनी ऊँची है ? इस प्रकार मृत्युकला मे पारगत व्यक्ति मृत्यु को अपने लिए वरदान बना सकता है और अपने जीवन को उच्चगति की ओर ले जा सकता है। यद्यपि मरण-समाधि या जीवित समाधि की व्यवस्था हिन्दू धर्म मे भी विद्यमान है, तथापि जैनधर्म की सल्लेखना-सथारा की साधना इन सबमे अधिक ऊँची है, विवेकयुक्त है।

दूषण

मृत्यु कला की साधना के लिए, समाधिमरण के लिए जैनशास्त्र मे पाँच दूषण माने गये है—

"इहलोगाससप्पओगे, परलोगाससप्पओगे, जीवियाससप्पओगे,
मरणाससप्पओगे, कामभोगासमप्पओगे।"

इस लोक मे किसी भी वस्तु या व्यक्ति पर आसक्ति रखना, परलोक मे मिलने वाले स्वर्गीय सुखो की आशा करना, अधिक जीने की आकाक्षा करना, दुःख से घबराकर शीघ्र मरने की इच्छा करना, इन्द्रियसुखोपभोगो की लालसा करना। इसलिए सफल मृत्यु उसी की होती है, जो मृत्यु की कला को समझ लेता है। पति के पीछे चिता मे जलकर सती हो जाने की प्रथा भी अज्ञान-मृत्यु बालमरण है। इसी प्रकार विषभक्षण, अग्निप्रवेश, जल मे डूब जाना, झपापात, फांसी लगा लेना, दम घोट लेना आदि सब आत्महत्या के प्रकार है, जिनसे मृत्यु सुधरती नही है, बिगड़ जाती है।

मृत्यु से अमृत की ओर

हाँ, तो मै आपसे कह रहा था कि मृत्यु भी एक कला है, और वह कला ऐसी है, जिसके लिए जीवन भर साधना करनी पडती है, दृष्टि माँजनी पडती है, विकारो को साफ करना पड़ता है, आत्मा पर आयी हुई विकारो की परतो को, मोह के जालो को हटाना पड़ता है, तभी मृत्यु की कला मे मनुष्य प्रवीण होता है।

भारतीय दार्शनिको ने तो मृत्यु को सफल करने के लिए मृत्युकला को साथ रहने के बावजूद भी ऊँची उड़ान भरी है, जिसमे मृत्यु फिर कभी आये ही नही ऐसी स्थिति प्राप्त करने की प्रभु से प्रार्थना की है—

'मृत्योर्मा अमृत गमय'

'प्रभो, मृत्यु से मुझे अमरता की ओर ले चल।'

अगर वास्तव मे आप ऐसी स्थिति प्राप्त करना चाहते हो तो मृत्यु को सफल बनाना चाहिए, मृत्यु को एक महोत्सव मानकर उसकी खुशियाँ मनाइये, और सब से क्षमापना और मैत्री भावना के साथ विदा होइये, विकारो और वासनाओ की धूल बहा कर अपनी आत्मा को शुद्ध, पवित्र और निर्मल बनाइये, यही मृत्युञ्जय बनना है यही मृत्युकला का रहस्य है और मरण-समाधि का उद्देश्य है।

परिग्रह क्या है ?

परिग्रह की परिभाषा

परिग्रहवृत्ति का अर्थ केवल किन्ही वस्तुओ को ग्रहण कर लेना ही नही है। अगर ग्रहण कर लेने मात्र से परिग्रह हो जाय तो एक साधु अनेक जगह घूमता है, अनेक स्थानो को ग्रहण करता है, अपने जीवन-धारण के लिए अनेक वस्तुओ को स्वीकार करता है, वह भी परिग्रह हो जाय। किन्तु निष्परिग्रहशिरोमणि भगवान महावीर ने इसे परिग्रह नही कहा। परिग्रह कहाँ है और कहाँ नही, इसका निर्णय देते हुए शास्त्रकारो ने कहा है—

> "ज पि वत्थ च पाय वा, कबल पायपुछण।
> त पि सजमलज्जट्ठा, धारति परिहरति य॥
> न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
> मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्त महेसिणा॥"
>
> —दशवैकालिक

अर्थात्—वस्त्र, पात्र, पादप्रोछन, कबल, रजोहरण या अन्य जो भी उपकरण निर्ममत्व मुनि सयम यात्रा के लिए या लज्जा निवारण के लिए धारण करते है या प्रयोग करते है, उसे प्राणिमात्र के त्राता ज्ञातपुत्र महावीर ने परिग्रह नही बताया है, किन्तु उस महर्षि ने मूर्छा ही परिग्रह है, ऐसा कहा है।

तात्पर्य यह कि जिस वस्तु को मोह-बुद्धिवश, आसक्तिपूर्वक ग्रहण किया जाय वह परिग्रह है चाहे वह वस्तु सजीव हो या निर्जीव हो। एक आचार्य ने यही बात कही है—

'परि समन्तात् मोहबुद्ध्या गृह्यते स परिग्रह"

इसलिए परिग्रह का सीधा सम्बन्ध किसी पदार्थ से न होकर आत्मा से है। किसी भी सजीव या निर्जीव वस्तु पर, यहाँ तक कि अपने शरीर पर, या अपने विचार, मान्यता, सम्प्रदाय, परम्पराओ आदि मे से किसी पर भी आसक्ति आत्मा मे पैदा हुई या परिग्रहवृत्ति आ गई। पदार्थ का संग्रह केवल आत्मा की शुद्धि [illegible]

इन सब को ठुकरा कर उन्होंने अपनी मर्जी से गरीबी स्वीकार की, सादगी अपनाई, संयम धारण किया, केवल भारत की आत्मा को गुलामी की पीड़ा से कराहते देख कर! अंग्रेजों के अत्याचारों, अन्यायों व शोषणों की चक्की में पिसते देख कर! भारत माता का वह प्यारा लाल माता के उस असह्य दुःख को सहन नहीं कर सका। भारत माता दुखिया है, अधनंगी और अधभूखी है, शोषित और पीड़ित है, यह सोच कर ही तो गांधीजी ने वायसराय से मिलते समय भी अपनी वही खादी लंगोटी पहने रखी। भारत की दरिद्रता को मिटाने के लिए ही उन्होंने अपरिग्रहवृत्ति अपनाई। भगवान महावीर से लेकर आज तक हजारों जैन-श्रमण व श्रमणियाँ स्वेच्छा से गरीबी का व्रत लेकर घूम रहे हैं, वह किसलिए? दुनिया के सामने अपरिग्रहवृत्ति के आनन्द का आदर्श रखने के लिए ही तो! संसार को असली सुख-शान्ति की चाबी बताने के लिए ही तो!

परिग्रहवृत्ति का राज्य

हाँ तो, मैं कह रहा था कि आज दुनिया में परिग्रहवृत्ति का राज्य चारों ओर दिखाई दे रहा है, जिसके कारण शोषण, हत्याएँ, मार-काट, युद्ध और महायुद्ध हो रहे हैं। परिग्रहवृत्ति के कारण ही एक देश दूसरे देश को हथियाने और उसके बाजारों पर अपना कब्जा जमाने की कोशिश करता है। परिग्रहवृत्ति इतनी भयंकर है कि वह मनुष्य में मनुष्यता नहीं रहने देती, अपने सहोदर भाई और बहिन तक परिग्रहवृत्ति वाले व्यक्ति को अपने जानी दुश्मन से लगने लगते हैं। दूसरे देशों की जो साम्राज्य लिप्सा बढ़ी हुई है, एक ही राष्ट्र में जो आन्तरिक दंगे हो रहे हैं, वे सब परिग्रहवृत्ति रूपी विषबेल के ही जहरीले फल हैं जो बाहर से बहुत सुन्दर और सुरम्य दिखाई देते हैं, लेकिन उनका परिणाम मरणान्तक है। मनुष्य जब परिग्रहवृत्ति अपने जीवन में अपना लेता है तो उसे प्रत्येक वस्तु अपनी ही दिखाई देने लगती है, वह रात-दिन इसी फिराक में रहता है कि किसी तरह से वह वस्तु मेरे ही अधीन रहे, मेरे कब्जे में आ जाये। वह जब उससे छूटती दिखती है, उसका वियोग होने लगता है, उस वस्तु का विनाश होने लगता है तो उसे ऐसा लगता है मानो मेरा ही कोई सर्वनाश हो रहा हो और जब वह उस वस्तु पर से अपनापन हटा देता है, ममत्व छोड़ देता है तो उसे उसकी कोई परवाह नहीं रहती।

ममत्व

[illegible] आदमी ने दस हजार रुपये में एक मकान खरीदा। मकान खरीदने से पूर्व उस मकान की उसे कोई परवाह या चिन्ता नहीं थी, लेकिन मकान खरीदने के बाद उसमें उसकी 'मेरेपन' की छाप लग गयी और वह उस मकान को [illegible] किराये पर दे देता है। किरायेदार उस मकान की तोड़-फोड़ करता है, या [illegible] [illegible] ठीक से नहीं रखता है, तब तक कि किरायेदार के बारे [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है, [illegible] [illegible] है वह उसकी तोड़-फोड़ [illegible]

उन सब को ठुकरा कर उन्होंने अपनी मर्जी से गरीबी स्वीकार की, सादगी अपनाई, संयम धारण किया, केवल भारत की आत्मा को गुलामी की पीड़ा से कराहते देख कर। अंग्रेजों के अत्याचारों, अन्यायों व शोषणों की चक्की में पिसते देख कर। भारत माता का वह प्यारा लाल माता के इस असह्य दुःख को सहन नहीं कर सका। भारत माता दुखिया है, अधनंगी और अधभूखी है, शोषित और पीड़ित है, यह सोच कर ही तो गांधीजी ने वायसराय से मिलने समय भी अपनी वही सादी लंगोटी पहने रखी। भारत की दरिद्रता को मिटाने के लिए ही उन्होंने अपरिग्रहवृत्ति अपनाई। भगवान महावीर से लेकर आज तक हजारों जैन-श्रमण व श्रमणियाँ स्वेच्छा से गरीबी का व्रत लेकर घूम रहे हैं, वह किसलिए ? दुनिया के सामने अपरिग्रहवृत्ति के आनन्द का आदर्श रखने के लिए ही तो ! संसार को अपनी सुख-शान्ति की चाबी बताने के लिए ही तो !

परिग्रहवृत्ति का राज्य

हाँ तो, मैं कह रहा था कि आज दुनिया में परिग्रहवृत्ति का राज्य चारों ओर दिखाई दे रहा है, जिसके कारण शोषण, हत्याएँ, मार-काट, युद्ध और महायुद्ध तक हो रहे हैं। परिग्रहवृत्ति के कारण ही एक देश दूसरे देश को हथियाने और उसके ऊपर अपना कब्जा जमाने की कोशिश करता है। परिग्रहवृत्ति इतनी भयंकर है कि वह मनुष्य में मनुष्यता नहीं रहने देती, अपने सहोदर भाई और बहिन तक परिग्रह वाले व्यक्ति को अपने जानी दुश्मन से लगने लगते हैं। दूसरे देशों की जो साम्राज्य लिप्सा बढ़ी हुई है, एक ही राष्ट्र में जो आन्तरिक दंगे हो रहे हैं, वे सब परिग्रह रूपी विषबेल के ही जहरीले फल हैं जो बाहर से बहुत सुन्दर और सुरम्य दिखाई देते हैं, लेकिन उनका परिणाम मरणान्तक है। मनुष्य जब परिग्रहवृत्ति अपने जीवन में अपना लेता है तो उसे प्रत्येक वस्तु अपनी ही दिखाई देने लगती है, वह रात-दिन इसी फिराक में रहता है कि किसी तरह से वह वस्तु मेरे ही अधीन रहे, मेरे हाथ आ जाये। वह जब उससे छूटती दिखती है, उसका वियोग होने लगता है, उसका विध्वंस होने लगता है तो उसे ऐसा लगता है मानो मेरा ही कोई सर्वनाश हो रहा हो और जब वह उस वस्तु पर से अपनापन हटा देता है, ममत्व छोड़ देता है तो उसकी कोई परवाह नहीं रहती।

ममत्व

कल्पना कीजिए एक आदमी ने दस हजार रुपये में एक मकान खरीदा। मकान खरीदने से पूर्व उस मकान की उसे कोई परवाह या चिन्ता नहीं थी, परन्तु खरीदने के बाद उसमें उसके 'मेरेपन' की छाप लग गयी और वह उस मकान को किराये पर दे देता है। किरायेदार उस मकान को तोड़ते-फोड़ते हैं, या [illegible] करते हैं तो उसे ठेस पहुँचती है, यहाँ तक कि किरायेदार के साथ उसका [illegible] होता है, मिलते हैं तो उसे धक्का पहुँचता है, वह उनकी रोक-टोक करता है

ऐसे राष्ट्रवादी लोगो की मूर्खता और शान्ति के नाटको को क्या कहा जाय? क्या सामग्रीवृद्धि, संग्रहवृद्धि और तृष्णावृद्धि से संघर्ष, युद्ध या विषमता का तूफान बन्द हो सकता है? ऐसे लोगो की बुद्धि पर तरस आता है, जो विश्व-शान्ति का एक ओर तो स्वाँग रचते है, दूसरी ओर विश्व-अशान्ति के मूल कारण परिग्रहवृत्ति को छोड़ना नही चाहते। फिर चिल्लाते रहते है—"क्या करे मन नही मानता है, या अमेरिका इसके लिए तैयार नही है?" यह तो उसी प्रकार की बात है कि एक व्यक्ति ने वृक्ष को जोर से पकड लिया और लगा चिल्लाने—"अरे, मुझे वृक्ष नही छोड रहा है, क्या करूँ भाई?" उस मूर्ख-शिरोमणि से कोई कहे कि वृक्ष को तुमने पकड रखा है या तुमको वृक्ष ने? दुनिया की ऐसी मूर्खतापूर्ण हरकतें देखकर अक्ल गुम हो रही है कि क्या कहा जाय ऐसे लोगो को जो स्वय ही परिग्रहवृत्ति के भूत को सिर पर चढाए हुए है और कहते है परिग्रह हमे छोडता नही! सिक्के को एक दिन समाज ने आपसी सहयोग तथा विनिमय का साधन मान कर अपनाया था, लेकिन वही सिक्का, वही पैसा आज भूत बनकर मानव-समाज के सिर पर चढ बैठा है। एक दिन वस्तुओं के विनिमय का युग था। पृथक्-पृथक् व्यवसाय वाले व्यक्ति पृथक्-पृथक् वस्तुओं का उत्पादन या निर्माण करते और उन्हे देकर परिवर्तन मे अपनी आवश्यक वस्तुएँ ले लेते थे। इस प्रकार के वस्तु-विनिमय मे संग्रहलिप्सा, ममत्ववाद और तिजोरीवाद नही पनपने पाते थे और शीघ्र ही जीवन के सभी प्रश्न हल हो जाते थे, मनुष्य लोग जीवन की आवश्यकता और उपयोगिता के अनुसार चीजो का उत्पादन या निर्माण करता था। शौकीनी, फैशन बढाने या अधिक पैसे मिलने के लोभ से, अपनी वस्तु अधिक खपाने की ममता से नही करता था, किन्तु उस भोले-भाले मनुष्य को न मालूम बैठे-बैठे क्या सूझा कि उसने सिक्के को बीच मे दलाल बना लिया। वही सिक्का लफंगा बनकर आज मानव पर इतना हावी हो गया है कि मनुष्य उसका गुलाम बन बैठा है, उसके बिना एक दिन भी जीने की वह कल्पना नही कर सकता। लफंगे मे जितने भी गुण होते है, सब इस सिक्के मे आ गये। सिक्का वास्तव मे समाज की कल्पित वस्तु है; उसकी कल्पना सोने मे, चाँदी मे, चमडे मे, तांबे-पीतल मे, हीरे-पन्ना के पत्थरो मे और कागज मे हुई। महत्त्व उन सब वस्तुओं का नही, महत्त्व है मनमाने कल्पित मूल्य का। अगर मनुष्य मिट्टी को भी सोने जितना महत्त्व दे दे तो मिट्टी भी सोने जितनी ही कीमती बन सकती है।

राका और बांका

महाराष्ट्र मे पंढरपुर मे राका और बांका ये दोनो प्रसिद्ध निर्लोभी, [illegible] प्रवृत्ति वाले भक्त हो गये है। एक बार संत नामदेव ने उनकी परीक्षा लेने की ठानी और उनकी निर्लोभता का चमत्कार दिखाने के लिए साथ मे एक आदमी को ले [illegible] लिया। उस दिन राका और बांका दोनो जंगल मे काष्ठ काटने के लिए जा रहे थे। रास्ते मे देवयोग से अचानक एक थैली पर राका के पैर पड़े। सहसा आवाज [illegible] हुई। उन्होने उसे सोना समझकर उस पर धूल डाल दी, ताकि किसी का मन [illegible]

महात्मा बुद्ध ने भी अपने प्रिय शिष्यों को सम्बोधित कर एक दिन कहा था, हे शिष्य ! तू अपने चित्त को काम-गुणों में आसक्त मत कर "मा ते कामगुणे रमस्सु चित्त"। वैदिक संस्कृति के महान् आचार्यों ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा है—ब्रह्मचर्यरूप तप से देवों ने मृत्यु पर विजय पायी है, "ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत"।

हाँ, तो मैं आपसे कह रहा था कि भारत के ऋषि-महर्षि, श्रमण निर्ग्रन्थ समवेत-स्वर में ब्रह्मचर्य की महिमा गा रहे हैं और विकारों की निन्दा कर रहे हैं, ब्रह्मचर्य की साधना से शरीर स्वस्थ होता है, आत्मा शक्तिमान बनता है और विचार निर्मल होते हैं, किन्तु विकार और वासनाओं से शरीर का तेज और ओज नष्ट हो जाता है, आत्मा दुर्बल हो जाती है और विचार विकृत हो जाते हैं। ब्रह्मचर्य जीवन की धुन है और विकार जीवन का घुन है। ब्रह्मचर्य-रूपी धुन जिस जीवन में लग जाती है वह जीवन चमक उठता है और विकार-रूपी घुन जिस जीवन को लग जाती है वह जीवन बर्बाद हो जाता है।

अँधियारी रात है, आकाश में उमड़-घुमड़कर घनघोर घटाएँ छा रही हैं, आँधी चल रही है, काले-काले बादल भयंकर गर्जना कर रहे हैं, बिजलियाँ चमक रही हैं। उस समय दो यात्री हिमालय की विकट घाटियों में से गुजर रहे हैं, उन्हें कभी हिरन चौकड़ियाँ भरते हुए दिखलाई दे रहे हैं, तो कभी रंग-बिरंगे वन्य पशु छलांगें मारते हुए दृष्टिगोचर हो रहे हैं। कभी भेड़ियों के गुर्राने की भयंकर आवाज आ रही है, तो कभी हाथियों की चिंघाड़ सुनायी दे रही है। कभी गीदड़ों की हा-हू हो रही है तो कभी शेर की गम्भीर गर्जना से सारे जंगल में सन्नाटा छा रहा है, एक यात्री भय से काँप रहा है किन्तु दूसरा बेफिक्र चल रहा है उसे किसी बात की चिन्ता नहीं है। दूसरा यात्री अपने स्नेही साथी की निर्भीकता को देखकर चकित है, अन्त में उसने पूछा—"भैया, तुम्हारे अभय का कारण क्या है, ऐसी कौनसी चीज तुम्हारे पास है जिससे तुम्हें भय नहीं लग रहा है?" उत्तर में प्रथम यात्री ने बड़े अभिमान के साथ कहा—"क्या तुम्हें पता नहीं है, मेरे हाथ में जो यह लाठी है कितनी सुन्दर है, कितनी मनमोहक है, उस पर कितना चित्ताकर्षक रंग-रोगन किया गया है, कलापूर्ण चित्रकारी की गयी है, उसमें कलाकार के अन्तर्मानस के गूढ़ भावों की सजीव अभिव्यंजना हो रही है। उसे देखते ही दर्शक का तन-मन-नयन प्रमुदित हो जाता है। वह हर्ष से नाच उठता है और मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करता हुआ अघाता नहीं है।" दूसरे यात्री ने कहा—"भैया ! तुम्हारी बात तो सोलह आने सही है किन्तु इस लाठी में तो घुन लगा हुआ है न ! यह बाहर से तो बिजली की तरह चमक रही है किन्तु अन्दर का सारतत्त्व नष्ट हो चुका है, तिस पर भी तुम इतना अभिमान कर रहे हो कि चाहे जितने वन्य पशु आवें, हिंस्र-जानवर आवें, मैं इस लाठी से उन्हें मार भगाऊँगा ! यदि कोई पशु सामने आ गया और उससे बचाव के लिए तुमने

किन्तु सती-सीता उसे फटकारती है, तिरस्कार करती है, अपमान करती है, उसके प्रलोभनो को ठुकरा देती है, रावण की चमचमाती तलवार से भी वह भयभीत नहीं होती है, आप जानते है ऐसी कौन-सी अद्भुत शक्ति थी सीता मे ? क्या उसके पास तोप, तलवार, बन्दूक थी ? नही उसके पास था ब्रह्मचर्य का महान तेज, जिसके सामने सभी तेज निस्तेज थे। सभी शक्तिया पराभूत थी।

भीष्म पितामह से महारानी सत्यवती ने कहा—भीष्म ! तुमने मेरे लिए आजन्म ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा ग्रहण की थी, आज मैं तुम्हे आज्ञा प्रदान करती हूँ कि तुम प्रतिज्ञा भग करो और कुल-वृद्धि के लिए विवाह करो। व्यास ने भी सत्यवती की बात का समर्थन किया और विवाह करने की सलाह देते हुए कहा—भीष्म, वीर की सन्तान वीर होती है, तुम अपने लिए नही किन्तु देश मे वीरो की अभिवृद्धि करने के लिए, परोपकार के लिए विवाह करो। भीष्म ने कहा—पूज्य ! इन्द्र अपनी विभूति को छोड सकता है, यमराज न्याय का त्याग कर सकता है, अग्नि शीतल हो सकती है, चन्द्रमा अग्नि बरसा सकता है किन्तु भीष्म अपनी प्रतिज्ञा को नहीं छोड सकता, मेरे विवाह करने से एक-दो सन्तान वीर हो सकती है किन्तु मेरे को आजीवन ब्रह्मचारी देखकर कितने भारत के लाल वीर बनेंगे ? ब्रह्मचर्य के उस महान् तेज के कारण ही कुरुक्षेत्र के मैदान मे वह वीर बाण-शैया पर अठारह दिन तक लेटा रहा। सम्पूर्ण शरीर तीक्ष्ण-बाणो से बिंध जाने पर भी उसका चेहरा मुस्कराता रहा। जीवन की दार्शनिक गुत्थियो को सुलझाता रहा। धर्मराज के प्रश्नो का उत्तर देता रहा। यह है ब्रह्मचर्य के तेज का अनूठा उदाहरण।

भारतीय संस्कृति की गम्भीरवाणी हजारो वर्षों से गूँजती आ रही है, सन्देश देती आ रही है कि मानव ! तुझे जो यह अनमोल जीवन मिला है वह भौतिक-वासना की अंधेरी गलियो मे भटकने के लिए नही है। भोग-विलास की गन्दी नालियो मे कीडो की तरह कुलबुलाने के लिए नही है। पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा की भूल-भटकी टेढी-मेढी पगडण्डियो पर चक्कर काटने के लिए नही है। वासना का गुलाम बनकर बर्बाद करने के लिए नही है। विकारो के प्रवाह मे प्रवाहित होने के लिए नहीं है, अपितु इस जीवन का उद्देश्य है विकार और वासनाओ पर विजय वैजयन्ती फहराना, त्याग-वैराग्य की निर्मल ज्योति जगाना, यम-नियम की सरस-सरिता मे अवगाहन करना। जो महान आत्मा जीवन के इस सही उद्देश्य को समझ लेता है वह सदा ज्योतिपुञ्ज के रूप मे मानव-जाति को नि श्रेयस् की ओर अग्रसर होने के लिए सन्देश देता रहता है।

जैन-साहित्य के जगमगाते नक्षत्र विजय कुँवर और विजया कुमारी की कथा आप जानते है जो केवल इतिहास का अलंकार और गवाक्ष ही नहीं है अपितु जगमगाता हुआ रत्न है। जिनका जीवन उस विशाल सागर के समान है, जिसका कहीं छोर नहीं, अन्त नहीं, हजारो वर्षों से जिनकी जीवन-गाथाओ का बखान किया जा रहा

अगर जीवन-नाटक मे मनुष्य एक बार भी सँभल जाता है, मायानटी के नाटक मे नही फँसता तो उसका मार्ग साफ हो जाता है, उसका जीवन स्वाभाविक गति से अपने लक्ष्य की ओर गति करता है, अन्यथा मायानटी उसे बार-बार भटकाती है, विविध योनियो मे उसे तरह-तरह के पार्ट अदा करने पड़ते है, वह अपना आत्मभान भूला रहता है।

अत आप अपने जीवन-नाटक को सम्यक् प्रकार से, उत्तम ढग से तथा अनासक्तिपूर्वक पार्ट अदा करिए, मोहमाया के भ्रमजाल मे नही फँसते हुए अपने ढग दिखाइए, साथ ही दूसरो के जीवन नाटक को देखते समय, सच्चे ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रहिए, अपना भान भूलिए मत, मायानटी के हाव-भाव मे मत फँसिए, इसी मे आपके जीवन-नाटक की सफलता है, इसी मे जीवन-नाटक की परिपूर्णता है।

अगर जीवन-नाटक में मनुष्य एक बार भी सँभल जाता है, मायानटी के चक्कर में नहीं फँसता तो उसका मार्ग साफ हो जाता है, उसका जीवन अबाध गति से अपने लक्ष्य की ओर गति करता है, अन्यथा मायानटी उसे बार-बार नचाती है, विविध योनियों में उसे तरह-तरह के पार्ट अदा करने पड़ते हैं, वह अपने आप का भान भूला रहता है।

अतः आप अपने जीवन-नाटक को सम्यक् प्रकार से, उत्तम ढंग से खेलिए, अनासक्तिपूर्वक पार्ट अदा करिए, मोहमाया के भ्रमजाल में नहीं फँसते हुए अपने रूप दिखाइए, साथ ही दूसरों के जीवन नाटक को देखते समय, सच्चे ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रहिए, अपना भान भूलिए मत, मायानटी के हाव-भाव में मत फँसिए, इसी में सारे जीवन-नाटक की सफलता है, इसी में जीवन-नाटक की परिपूर्णता है।

इससे मालूम पड़ता है कि भारत के लोगो का आज परमात्मा पर से विश्वास उठता जा रहा है। अगर उन्हे परमात्मा पर दृढ विश्वास होता तो वे अप्रामाणिक व्यवहार या बेईमानी का आचरण किसी के साथ, कही भी नही करते। उन्हे यह भरोसा ही नही रहा कि ईमानदारी से हम भूखे पेट नही रह सकते। ईमानदारी मानव-जीवन की रक्षक है। स्थूल शरीर की रक्षा को ही हमे रक्षा नही समझ लेना चाहिए। अँग्रेजो ने भारतीयो के स्थूल शरीर की रक्षा के लिए अनेक सुख-साधनो का प्रचार किया, अनेक सुख-सुविधाएँ बढायी, नौकरियो मे छुट्टियाँ अधिक देने लगे, पर उससे भारतवासियो का आन्तरिक शोषण, आत्मपतन कितना हुआ, यह बहुत कम लोग सोचते है। आत्मा गुलामी मे पडी रहे तो वह आत्मरक्षा नही है। वैसी आत्मरक्षा तो भारतवासियो के धन्धे न उजाडने और उनकी प्रतिभा स्वतन्त्रतापूर्वक खिलने देने से हो सकती थी। परन्तु भारतीय लोग ऐसे आत्मरक्षक प्रभु को भूलकर गौराग प्रभु अँग्रेजो पर ही पक्का विश्वास करने लगे। फलत उनमे बेईमानी, अनीति, कामचोरी, आलस्य, रिश्वतखोरी आदि बुराइयाँ पनपती गयी। आज अँग्रेजो के भारत से चले जाने पर अभी तक बेईमानी जड जमाये हुए है। उन्हे यह सूत्र नही भूलना चाहिए—

"जिसके जीवन मे ईमान, उसका रक्षक है भगवान।"

जहाँ जीवन मे प्रामाणिकता आ जाती है, वहाँ प्रभु के प्रति और विश्वात्मा के प्रति प्रेम जाग जाता है। इस कारण उसका स्वास्थ्य भी निश्चिन्तता के कारण खराब नही होता, आत्मा भी स्वस्थ रहता है, मन भी और शरीर भी। इस विषय मे एक ताजी घटना लीजिए—

अहमदाबाद मे वकाल जाति का एक सागभाजी बेचने वाला व्यापारी रहता था। वह सागभाजी का बडा व्यापारी था। वह ग्राहको के साथ मधुरता का व्यवहार करता था और व्यापार करने मे भी उसका साहस बढा हुआ था। उसमे सिर्फ एक ही अवगुण था कि हमेशा पूजापाठ, तीर्थव्रत करते रहने पर भी उसका विश्वास व्यापार मे असत्याचरण पर, बेईमानी पर था। व्यापार मे तो झूठ बिना काम ही नही चल सकता, यह विश्वास उसके दिल मे जड जमाये बैठा था। वह वर्षों से इस असत्य प्रयोग का अनुभव कर रहा था। कोई ग्राहक आता तो सागभाजी तोलते समय दिखाने मे तो तराजू की डण्डी झुकी लगती और ग्राहक को विश्वास भी हो जाता कि माल भी पूरा है और भाव भी बाजार से पैसा-दो पैसा कम है। परन्तु ग्राहक के घर मे माल कम ही जाता था, उसका कारण वकाल भाई की बेईमानी की कला थी। वकाल के पडौस मे ही एक डाक्टर रहता था, जो उसका मित्र था। अलबत्ता, वह विलायती दवाइयो का प्रयोग करता था, पर उसकी श्रद्धा आयुर्वेदिक या प्राकृतिक उपचार पर थी। दवा की शीशी और इन्जेक्शन देकर पैसा बटोरने की नीति उस डॉक्टर की नहीं थी। रोगी को स्वस्थ बनाने के साथ-साथ, उसे नीतिमान, ईमानदार और सदाचारी बनाने का भी वह ध्यान रखता था, क्योंकि डाक्टर का यह विश्वास था कि मनुष्य बेईमानी, अनीति और अनाचार से ही बीमार पडता है, अस्वस्थ होता है।

नही है । ईमानदारी जिस व्यक्ति मे होती है, वह हर काम को ईमानदारी से करने की वृत्ति वाला बन जाता है । उसकी आत्मा प्रतिक्षण जागरूक रहती है, कही भी मुझसे बेईमानी का काम न हो जाय । सतर्कता और दृढता उसके जीवन मे आ जाती है। हृदय की सरलता उसे वरदान मे मिल जाती है । वह प्रत्येक व्यक्ति का विश्वासपात्र बन जाता है । आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी ईमानदारी का महत्त्व कम नही है। ईमानदारी जिसमे होती है, वह व्यक्ति 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के मन्त्र को व्यवहार मे उतारने का अवसर पाता है । अपनी आत्मा और परमात्मा के प्रति भी उसकी वफादारी प्रगट होती है । वह अपने जीवन को भी ईमानदारी से पवित्र बनाता है, और दूसरों के जीवन मे भी पवित्रता का लेप लगाता है । दूसरो के जीवन पर भी उसकी प्रामाणिकता का असर पडता है । आसपास के वातावरण को वह सुगन्धित बना देता है । मानवता का वह उत्कृष्ट पुजारी होता ही है । जैसे एक दीपक से अनेक दीपक जलाये जा सकते है, इसी प्रकार ईमानदार मनुष्य-दीपक की ईमानदारी की लौ से अनेक बुझे हुए मानव-दीपक जलाये जा सकते है । इसलिए आज सबसे अधिक आवश्यकता ईमानदारी की लौ को सतत प्रज्ज्वलित रखने की है । जहाँ एक बार भी ईमानदारी की लौ बुझी कि दुनिया मे मानवता का प्रकाश समाप्त हो जायगा, दानवता का अँधेरा छा जायेगा ।

अतएव आज के विषम वातावरण को देखते हुए क्या धार्मिक, क्या आध्यात्मिक, क्या सामाजिक, क्या राजनैतिक, क्या व्यावसायिक, क्या पारिवारिक, क्या व्यावहारिक या सांस्कृतिक क्षेत्र मे, सर्वत्र ईमानदारी की लौ निरन्तर जलाये रखने की आवश्यकता महसूस होती है, तभी दुनिया की शान्ति स्थायी रह सकती है, विश्व सुख का दीपक जगमगाता रह सकता है, मानव-जीवन की व्यवस्था ठीक रह सकती है ।

ईमानदारी का मतलब यह है कि अपनी विश्वसनीयता को न खोना, अपने प्रति, प्रभु के प्रति और समाज के प्रति पूरी वफादारी और भरोसा रखना और इसी कारण अपने हक से जरा-सी भी अधिक चीज दूसरे के हक की न लेना । हक की बात समय, श्रम और धन या साधन सभी बातो पर लागू होती है । मान लीजिए आप किसी को अपनी मदद के लिए सहायक सेवक के रूप मे रखते है और समय हो जाने पर भी उसको बिना मन से, दबाव से अधिक समय तक रोके रखते है, उसकी मासिक तनख्वाह समय पर न देकर टालमटूली करते है, किसी मजदूर की मजदूरी का महनताना समय पर और उचित रूप मे नही देते है, पैसे कम देकर श्रम अधिक लेते है, बिना हक का, बिना श्रम का पैसा अपने कब्जे मे कर लेते है, बेईमानी से नाप-तौल मे चोरी करते है, माल मे मिलावट करते है, अच्छी दिखाने के बाद मे घटिया वस्तु देते है, बहीखाता मे टैक्स कम देने के लोभ मे गडबडी करते है, नकली बहीखाते बनाते है, खोटे-जाली सिक्के चलाते है, किसी की गिरवी रखी हुई वस्तु नही देते या उसमे से कमी कर देते है, किसी की अमानत की रकम हजम कर जाते है, या उसका हिसाब नहीं देते, किसी संस्था की या किसी फण्ड की रकम हडप जाते है, किसी विधवा बहिन के

धर्म का मूल मंत्र

भारतवर्ष धर्मप्रधान देश है, धर्म यहाँ का आधारभूत तत्त्व रहा है। आज भी यदि भारत की गौरव गरिमा है, उसका अन्तरराष्ट्रीय महत्त्व है तो वह धर्म के कारण है। संस्कृति और सभ्यता के कारण है। पर केवल इतिहास और संस्कृति के गीत गाने से कुछ नहीं बनेगा? बनेगा तभी जब हम जीवन में उस धर्म-मूलक इतिहास व संस्कृति से प्रेरणा ग्रहण कर उस ओर मुस्तैदी से कदम बढ़ावे। आज भारतवासी धर्म और दर्शन की, आत्मा और परमात्मा की, त्याग और वैराग्य की गहरी चर्चाएँ करते हैं और बात-बात में आगम, वेद, उपनिषद्, गीता आदि की दुहाई देते हैं, किन्तु धर्म का मूल मंत्र ईमानदारी, जीवन में कितनी है? प्रामाणिकता का अभाव कितना है? आप ही बतलाइए कि प्रामाणिकता के अभाव में धर्म कहाँ से आयेगा? सचमुच आज के भारतवासी विचारों से धार्मिक हैं और आचार से अधार्मिक हैं। आंग्लभाषा सुप्रसिद्ध के कवि विलियम शेक्सपीयर ने कहा है—

Religion without morality is a tree without fruit and morality without religion is a tree without root

अर्थात्—"नैतिकता-शून्य धर्म बिना फलों का वृक्ष है और धर्मरहित नैतिकता बिना मूल का वृक्ष है।"

आज नवनिर्माण की पुण्य वेला में सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भारतवर्ष भी अन्य देशों की तरह द्रुतगति से आगे बढ़ रहा है। भाखरा नांगल प्रोजेक्ट, दामोदर घाटी प्रोजेक्ट, हीराकुड प्रोजेक्ट आदि बड़े-बड़े बांध बांधे जा रहे हैं। बड़े-बड़े उद्योग प्रारम्भ किये जा रहे हैं, लम्बी-चौड़ी सड़कें निर्माण की जा रही हैं, बड़ी-बड़ी नहरें खोदी जा रही हैं, इस प्रकार भौतिक निर्माण के लिए समय शक्ति व सामर्थ्य का उपयोग किया जा रहा है, किन्तु बिना आध्यात्मिकता के, धर्म और ईमानदारी के अभाव में यह निर्माण बिना नमक के भोजन के समान है। आज सबसे बड़ी आवश्यकता है ईमानदारी की। बिना ईमानदारी के देश आगे नहीं बढ़ सकेगा, अतः आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति ईमानदार हो।

पर हाथ साफ करने में देर न लगेगी। समाज में भी वर-विक्रय, कन्या-विक्रय आदि तो बेईमानी की प्रतीक कुरूढ़ियाँ हैं ही। इसके अतिरिक्त भी गिरवी रखी हुई चीज को, किसी संस्था की अमानत को हजम कर जाना, दूसरी संस्था की रकम को अपने निजी कार्यों में उपयोग में लेना, एक कार्य के लिए इकट्ठी की हुई रकम को दूसरे काम में खर्च करना, जीमनवार वगैरह में बेईमानी करना, झूठे मुकदमे करना, झूठे गवाह खड़े करना आदि पचासों बातें ऐसी हैं, जो इन दोनों में भारत की अप्रामाणिकता का ढिंढोरा पीटती हैं।

धार्मिक क्षेत्र में भी बेईमानी कम नहीं की जाती है। धर्मादे की रकम को हजम कर जाना, अपने काम में लेते रहना आदि किस्से तो मामूली हैं। धर्म के नाम से विधवाओं, अपाहिजों, अनाथों आदि के नाम पर पैसे इकट्ठे करना और बाद में अपना स्वार्थसिद्ध करना तो आम बात हो गयी है। धर्म के नाम पर चमत्कार, अन्धविश्वास, अन्ध क्रियाएँ बताकर आम जनता को धोखा देना, ठगना और प्रसिद्धि लूटना इत्यादि बेईमानी भी भारत में प्रचलित है। धर्म-स्थान में जूतों की चोरी होना भी आजकल धर्म के नाम को बट्टा लगने जैसी बात हो गयी है।

सेवाग्राम का आश्रम गाँधीजी के रहने से एक पवित्र तीर्थस्थान बन गया था। एक बार एक जापानी ने गाँधीजी को तीन बन्दरों की मूर्तियाँ भेंट में दी थीं, जिनमें एक बन्दर की मुट्ठी मुख पर दूसरे की मुट्ठी कान पर और तीसरे की आँखों पर लगी हुई थी। तीनों मूर्तियाँ बड़ी प्रेरणादायक थीं, आँख, कान और मुँह पर संयम की। किन्तु एक दिन कोई अजनबी पहुँचा और वे तीनों मूर्तियाँ उठा ले गया।

सेवाग्राम का किराया सामान्यतः स्टेशन से आश्रम तक ३ से ४ रु० तक होता था, किन्तु तांगे वाले विदेशी, अपरिचित लोगों से १५ से २० रु० तक ठगिया लेते थे। कमरों का सामान उठाने की घटनाएँ भी आश्रम में कई बार हुई हैं। भारत के तीर्थस्थानों पर पण्डों के लूटने का दृश्य देखें तो दंग रह जायँ, वे किसी भी यात्री को शायद ही छोड़ते हों।

इस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भी ईमानदारी का दिवाला है। राजनैतिक क्षेत्र तो आज प्राय बेईमानी से पटा पड़ा है। वहाँ स्याह सफेद करना राजनीतिज्ञों के बायें हाथ का खेल हो गया है। कोई भी उम्मीदवार किसी भी पार्टी की ओर से चुनाव में खड़ा होगा तो लोगों को फुसलाकर, बहकाकर, झूठे वादे करके, रुपये देकर, भोजन खिलाकर, शराब और मांस का सेवन कराकर और न जाने कितने ही घृणित तरीकों से चुनाव जीत जाता है। फिर राजनीति में तो ४२० करने में जो सिद्धहस्त होता है, वही सफल राजनीतिज्ञ कहलाता है। मानो, राजनीति तो बेईमानी और बदमाशों का अड्डा हो। राजनीति के दाँवपेच बेईमानी से भरे होते हैं। पद पर रहकर अपने पक्ष के लोगों को नौकरी दिलाना, रिश्वत दिलाना, व्यापार-धन्धे दिला देना और जिन्हें जरूरत है, उन्हें नौकरी-धंधे न दिलाना ये सब बेईमानियाँ चोर-रास्ता है

दारी (सेवा और सहयोग) की भावना हो तो ईमानदारी आ सकती है। जैसे घर में माता कोई भी काम करती है तो दूकानदारी (स्वार्थ या प्रतिफल) की भावना से नहीं करती है, वह यह नहीं चाहती है कि मुझे अपने काम के बदले में पारिश्रमिक मिले, वह अपना हिसाब पेश नहीं करती है कि मैंने इतना कार्य किया, उसका दाम इतना, बल्कि वह सेवा और सद्भावना से सारा काम करती है, यही मकानदारी का सिद्धान्त है। जब दूकानदारी की जगह मकानदारी का सिद्धान्त भारतीय जीवन में आ जायेगा तब ही ईमानदारी की लौ जागृत हो सकेगी।

एक बार की बात है। हजरत अली राज्य के खजाने का कार्य कर रहे थे। उन्होंने मोमबत्ती जल रही थी। इतने में दो सरदार उनसे मिलने के लिए आये। उन्होंने उन्हें इशारे से पास में बैठने को कह दिया और स्वयं हिसाब में लगे रहे। हिसाब पूरा हो जाने पर वह मोमबत्ती को बुझा दी और जेब से दूसरी मोमबत्ती निकालकर जलाई। वे आगन्तुक सरदार आश्चर्य में पड़ गये, उन्होंने पूछा—"आप ऐसा क्यों कर रहे हैं ?" हजरत अली ने कहा—"वह सरकारी कार्य था, इसलिए सरकारी मोमबत्ती जल रही थी, अब मेरा कार्य है, इसलिए ईमानदारी का तकाजा है कि मेरी मोमबत्ती जलनी चाहिए, यही सोचकर मैंने ईमानदारी के नाते अपनी मोमबत्ती जलाई है, क्या यह ठीक नहीं है ?"

मतलब यह कि यहाँ सरकारी काम में भी मकानदारी आ गयी, तभी ईमानदारी आ सकी। मकानदारी का मतलब है कि कोई भी काम हो, काम अपने आप में छोटा या बड़ा नहीं है, उस काम के पीछे आत्मीयता की भावना, निष्ठा, लगन, वफादारी या घर का समझकर करने की वृत्ति हो। अगर यह वृत्ति आ जाय तो भारत से बेईमानी का मुँह काला हो जाय। परन्तु अभी तक तो सर्वत्र प्राय दूकानदारी की भावना लगी हुई है। कोई भी किसी काम को प्राय निःस्वार्थ भाव से करने में हिचकिचाता है। यही बेईमानी की जड़ सींचना है।

अगर मानव अपने जीवन को श्रेष्ठ बनाना चाहता है तो उसे अपने जीवन में ईमानदारी की लौ को सतत प्रज्ज्वलित रखनी होगी। अन्यथा अपना जीवन भी खोयेगा और अपने सम्पर्क में आने वाले लोगों को भी पतन की राह पर ले जाकर अपने समाज, देश और धर्म को भी बदनाम करायेगा।

अब समय आ गया है कि भारतवासी अपनी आँखें खोलें, विदेशों में सस्ती धर्म और आध्यात्मिकता की लम्बी-चौड़ी डींगें न हाँक कर ईमानदारी से प्रत्यक्ष काम करके आध्यात्मिकता को जीवन में सिद्ध करने की कोशिश करें।

हाँ तो, आप सभी लोगों से मुझे आशा है कि आप ईमानदारी के प्रकाश को अपने जीवन में रमायेंगे, जीवन के हर क्षेत्र में ईमानदारी को अपनायेंगे तो ईमानदारी की लौ सफलतापूर्वक जल सकेगी और आपका मानव-जीवन सफल और सुखी होगा।

झकार पैदा नही होगी। मतलब यह है कि जीवन-वीणा मे प्रेम की सुरीली और मधुर झकार पैदा करने के लिए मन, वाणी और शरीर तीनो तारो का कुशल होना, सधा होना आवश्यक है। अगर तीनो मे से एक भी खराब हुआ, अव्यवस्थित हुआ, शिथिल हुआ या आसक्ति मे दृढ निगडित हुआ तो जीवन-वीणा मे मनोज्ञ झकार पैदा करने का स्वप्न पूरा न होगा। सिद्धान्त यह निकला कि जीवन वीणा मे शुद्ध प्रेम की झकार तभी पैदा होगी, जब मन, वचन और शरीर के तीनो तार तादात्म्य और ताटस्थ्य दोनो से युक्त हो। तादात्म्य का मतलब जीवन-वीणा बजाते समय कुशलवादक के हाथ, मन और कण्ठ इतने सधे हुए होने चाहिए कि प्राणि जीवन के साथ अपनी मस्ती मे तल्लीन हो जाय, एकात्मकता अनुभव करने लगे, प्रेम की उत्ताल तरगे हिलोरे लेने लगे आसक्ति और मोह-ममता मे दृढतापूर्वक जकड दिये जाने से तादात्म्य भग हो जाता है और उससे बचने के लिए उपर्युक्त तारो मे ताटस्थ्य आना चाहिए। ताटस्थ्य का रहस्यार्थ यह है कि जब भी प्राणि जीवन के साथ आसक्ति और मोह-ममता के गु बन्धन आने लगे, तभी उन तीनो तारो को थोडा ढीला करना चाहिए, तादात्म्य को ठीक सतुलित करना चाहिए। तादात्म्य का रूप बिगडने लगे तो ताटस्थ्य की नितान्त आवश्यकता रहती है जरूर, मगर ताटस्थ्य का रूप भी बिगडना नही चाहिए। ताटस्थ्य का रूप तब बिगडता है, जब तादात्म्य को सर्वथा भूल कर, प्राणि जीवन के साथ एकात्मभाव की सर्वथा उपेक्षा करके, निष्क्रिय उदासीनता धारण करके मनुष्य ताटस्थ्य का ही सेवन करने लग जाता है। यह ताटस्थ्य का ठीक सतुलन नही है।

तात्पर्य यह है कि जीवनवीणा बजाते समय कुशल वीणावादक मानव को तादात्म्य और ताटस्थ्य दोनो सतुलित रखना चाहिए। तभी जीवनवीणा मे मस्त और मधुर प्रेम झकार का जन्म होगा। अन्यथा या तो प्रेम का झकार मोह के स्वर मे बदल जायेगा, स्वार्थ के नाद मे परिणत हो जायेगा या फिर घृणा, द्वेष, क्लेश, उपेक्षा और निष्क्रिय औदासीन्य का रूप ले लेगा। ये दोनो ही रूप जीवनवीणा के असतुलित हाल के है, दोनो ही तादात्म्य और ताटस्थ्य का अतिक्रमण करने वाले है।

नदी को आपने देखा है न? जब तक नदी अपने दोनो पाटो के बीच मे होकर बहती है, तब तक वह सतुलित रहती है, वह जगत् के जीवो को अपना सरल, सुमधुर जल देकर स्वस्थ रखती है, जीवित रखती है, अनेक प्राणियो के जीवन का वह आधार बनती है, किन्तु नदी जब उस सतुलन को तोडकर, अपने दोनो तटो का उल्लघन करके बाढ का रूप धारण कर लेती है, तो क्या नतीजा होता है? नतीजा यह होता है कि जो स्नेह-प्रवण सुमधुर जल प्राणियो को जीवनदान देने वाला था, जो स्वस्थ और प्रसन्न रखने वाला था, वही जल बाढ आने पर उन्हे मृत्यु के मुख मे पहुँचाने वाला बन जाता है, उनके जीवन की स्वस्थता और प्रसन्नता का हरण कर लेता है। बाढ आने के कारण नदी का स्नेहरस सन्तुलित नही रहा, वह द्वेष और क्लेश का, मोह और ममता का कारण बनकर असन्तुलित हो गया। नदी के स्नेह ने आसक्ति का रूप धारण कर लिया, इसलिए वह प्राणियो के लिए अनिष्टकारक बन गयी। इसी प्रकार नदी के दोनो पार

प्रेम का मार्ग अग्नि की ज्वाला पर चलने के समान है। वहा जरा-सी भी असावधानी हुई कि मार्ग से गिरे। प्रेमपथ पर चलने वाले पथिकों की शय्या शूली पर होती है, उसे सदा जागृत रहना पडता है, जरा-सी भी भूल वहाँ महान खतरा पैदा कर देती है।

प्रेम का थर्मामीटर (मापकयन्त्र) यही है कि जहाँ तादात्म्य और ताटस्थ्य दोनों की सीमा का अतिक्रमण न किया जाय, वहाँ प्रेम है, अन्यथा हो तो समझो कि वह मोह, द्वेष, ममता, आसक्ति या और कुछ है, जो प्रेम का रूप लेकर आये है।

एक स्वस्थ शरीर मे लगभग ९८½ डिग्री का तापमान रहना आवश्यक है, अगर इससे ज्यादा हो जाता है, अगर तापमान बढ जाता है तो उसे बीमार कहा जाता है, वह शरीर की विकृति समझी जाती है और उस अवस्था मे शरीर को बहुत कष्ट होता है, शरीर के लिए वह अवस्था अनिष्टकारक होती है। इसी प्रकार अगर नॉर्मल तापमान से शरीर मे कम या अत्यन्त कम तापमान होता है तो भी वह अवस्था बीमारी की है और बडी खतरनाक मानी जाती है। वह भी शरीर की विकृति ही समझी जाती है। शरीर की प्रकृतिस्थता या स्वस्थता नॉर्मल तापमान मे मानी जाती है और थर्मामीटर (तापमान मापकयन्त्र) के द्वारा उसकी शीघ्र परीक्षा हो जाती है।

इसी प्रकार प्रेम की गर्मी भी सतुलित तापमानयुक्त हृदय मे प्रकृतिस्थ होती है, स्वस्थ होती है, किन्तु जब वही गर्मी या तो ठडी, बिलकुल ठडी हो जाती है तो भी जीवन विकृतिमय बन जाता है और जब वह गर्मी अत्यधिक उग्र हो जाती है, उसकी डिग्री तीव्र और तीव्रतम हो जाती तो भी वह जीवन विकृतिमय माना जाता है, मोह की ही वह दशा समझी जाती है।

हाँ, तो आप एक बात को तो अच्छी तरह समझ गये होंगे कि प्रेम कहाँ है और कहाँ नही, कब प्रेम प्रकृतिस्थ रह सकता है और कब विकृतिस्थ हो जाता है?

महात्मा बुद्ध का शिष्य उपगुप्त आज मथुरा के जगल मे एक वृक्ष के नीचे सोया था। पृथ्वीतल पर चारु-चन्द्रिका थिरक रही थी। भूतल के सारे वातावरण को उसने सजीव और प्रकाशमान बना दिया था। मथुरा की एक नर्तकी उधर से ही गुजरी थी। अकस्मात् उसके पैर की ठोकर भिक्षु को लग गयी। उपगुप्त की निद्रा उड गयी थी। वह उठ बैठा और आश्चर्यमुग्ध होकर पश्चात्ताप करती हुई उस नर्तकी से कहने लगा—"बहिन, दुःखी मत हो। मैं तुम्हे क्षमा करता हूँ। अनजान मे ही यह ठोकर लग गयी है।" नर्तकी देखती ही रह गयी। चाँदनी के शीतल प्रकाश मे भिक्षु उपगुप्त का मुखकमल खिल रहा था। वह राजा का पुत्र था और आज भिक्षु बन जाने पर भी उसका शारीरिक सौन्दर्य दमक रहा था। ब्रह्मचर्य का अद्भुत तेज उसके मुख पर अठखेलियाँ कर रहा था। प्रेम की मधुर प्रभा उसके जीवन मे अगडाई लेकर, उसकी चमक को बढा रही थी। नर्तकी ने यह सब देखकर सहसा प्रस्ताव रखा—"सुन्दर, यह सुकुमार शरीर क्या इसी तरह धूल मे लोटने के लिए है? क्या तुम्हारा यह सौन्दर्य

शब्दो मे—प्रेम और वासना मे उतना ही अन्तर है जितना कचन और कांच मे।" नाम और रूप की दृष्टि से आज मोह और प्रेम मे कोई अन्तर नही समझा जाता है, लेकिन उनमे बडा अन्तर है। गाय का दूध और आक का दूध दोनो रूप रग मे और नाम मे समान है, लेकिन दोनो के गुणो मे जमीन और आसमान का अन्तर है, उतना ही अन्तर प्रेम और मोह मे है। आक का दूध मारक है, जबकि गाय का दूध शक्तिवर्द्धक है, तारक है। इसी प्रकार प्रेम आत्मशक्तिवर्द्धक और तारक है, जबकि मोह आत्म-विघातक है। सीता के प्रति लक्ष्मण और रावण दोनो का आकर्षण था, लेकिन लक्ष्मण का आकर्षण गाय के दूध के समान था, जबकि रावण का आकर्षण था आक के दूध के समान। लक्ष्मण के लिए सीता का वात्सल्य प्राणदायक बना, जबकि रावण के लिए सीता का वासनामय मोह प्राणघातक बना।

जिस प्रेम मे वासना का पुट है, जहाँ प्रेम के वेश मे वासना और मोह छिपे है और प्रेम की जगह पा लेते है, समझना चाहिए, वहाँ प्रेम नही है, प्रेम के नाम पर मोह या वासना की मुँह-बोलती कहानी है। आजकल सिनेमा के शौकीन युवक मोह के नशे म आकर तुच्छ क्षणिक और शरीरापेक्षी प्यार को, शुद्ध प्रेम समझ जाते है। कई निरकुश युवक-युवतियाँ वासना की वेदी पर लैला मजनूँ का-सा स्वाग करते हुए मोहकुण्ड मे अपने को झोक देते है, जिसका परिणाम दु खजनक और कटु ही होता है।

शुद्ध प्रेम तो आत्मापेक्षी है, उसमे देह की विकृतियो और आकृतियो की अपेक्षा नही रहती। रसखान कवि ने प्रेम का वास्तविक लक्षण बताते हुए कहा है—

"बिन गुन, जोवन, रूप, धन, बिन स्वारथ हित जानि।
शुद्ध कामना ते रहित, प्रेम सकल रसखानि॥"

प्रेम दूसरे के शारीरिक गुणावगुण की ओर नही देखता, रूप, यौवन, धन, स्वार्थ या अन्य कामनाए लेकर प्रेम नही आता। प्रेम इन सबसे परे है। क्योकि ये सब शरीर से ही सम्बन्धित है। प्रेम तो आत्मा से सम्बन्धित है, आन्तरिक है और मोह होता है बाह्य। प्रेम नित्य है, मोह अनित्य है। प्रेम-रूप वय की अपेक्षा नही रखता, मोह उन्ही पर आधारित होता है और इनके हटते ही काफूर हो जाता है। प्रेम तो उत्तरोत्तर वृद्धिशील है, जबकि मोह उत्तरोत्तर ह्रासशील। प्रेम उत्थान के पथ पर ले जाता है, मोह पतन के पथ पर। प्रेम ऊर्ध्वमुखी है, मोह अधोमुखी। प्रेम जीवन का प्रकाश है, मोह अन्धकार। प्रेम विशाल समुद्र है, मोह क्षुद्र तलैया। प्रेम शुद्ध स्नेहरूप और स्थाई होता है, जबकि मोह वासनामय, स्वार्थमय और अस्थाई होता है। प्रेम हृदय को विशाल और उदार बनाता है, मोह और स्वार्थ हृदय को सकुचित और सकीर्ण। प्रेम की पुष्टता वियोग मे होती है, मोह की पुष्टता सयोग मे होती है। प्रेम परमार्थी और परार्थी जीवन बनाता है, मोह स्वार्थी और शरीरार्थी जीवन। प्रेम मे न्यायान्याय का विवेक रहता है, मोह मे न्यायान्याय का विवेक-दीप बुझ जाता है। मोह मे लेने की भावना प्रधान होती है, प्रेम मे देने ही देने की। प्रेम बदला नही

हाँ तो, मैं आपसे कह रहा था कि आप शुद्ध प्रेम को पहिचानिए और जीवन मे झंकार पैदा कीजिए। शुद्ध प्रेम वहाँ होता है, जहाँ प्रत्येक प्राणी के सुख को अपना सुख समझा जाता हो। बल्कि शुद्ध प्रेमपरायण व्यक्ति तो दूसरो के दुखो को भी अपने पर झेलने का पराक्रम करता है, पर-दुःख को अपना दुःख मानकर, उस दुःख के काँटे को निकालने का भरसक प्रयत्न करता है। दूसरे शब्दो मे कहे तो विश्वभर के दुःखो को मिटाने और अपने सुखो को विश्व को लुटा देने मे जहाँ आनन्द है, वही प्रेम है। प्रेम मानव-जीवन का सुगन्धित पुष्प है, ऐसा पुष्प जहाँ काँटे चारो ओर लगे हुए हैं। काँटो की शय्या पर सोने वाले पुष्प के तुल्य प्रेम पुष्प है। सुगन्धित पुष्प अपने पास आने वाले को अपनी सर्वस्व सौरभ लुटा देता है, दूसरो के चिन्तित और व्याकुल मस्तिष्क को सुगन्ध की मस्ती मे भर कर प्रसन्न और स्वस्थ कर देता है। प्रेम का अनुभव कोई पूछना चाहे तो वह चमडे की जिह्वा मे प्रकट नही किया जा सकता। वह तो हृदय की आँखो मे ही देखा और परखा जा सकता है, दिल की जिह्वा से ही प्रेम का रसास्वादन किया जा सकता है। इसीलिए नारद भक्ति-सूत्र मे कहा है—

"अनिर्वचनीय प्रेम स्वरूप मूकास्वादनवत्"

प्रेम का स्वरूप वचन द्वारा नही प्रकट किया जा सकता जैसे गूँगे के मुँह मे कोई गुड की डेली दे तो वह उसके स्वाद का क्या वर्णन करेगा ? वैसे ही प्रेम के रस का वर्णन किया नही जा सकता, वह तो अनुभव ही किया जा सकता है।

कोई व्यक्ति पानी के ऊपर-ऊपर रहता है, तब तक वह बोल सकता है, पानी मे अन्दर डुबकी लगाने पर बोल नही सकता, इसी प्रकार प्रेम के सरोवर मे डुबकी लगाने पर मनुष्य बोलता नही, वह तो सक्रिय प्रेमाचरण ही करता है।

शेक्सपियर कहता है—"वे सबसे कम प्रेम करते हैं, जो अपना प्रेम सबके सम्मुख विज्ञापित करते हैं—जहा ऐसा विशुद्ध प्रेम होता है, वहा अनिर्वचनीय मधुरतम आनन्द की स्वत अनुभूति होती है। वहाँ दूसरो के लिए सर्वस्व अर्पण कर देने की वृत्ति स्वत स्फुरित होती है।"

कर्मयोगी श्रीकृष्ण शान्तिदूत बनकर दुर्योधन की राजसभा मे गये तो उनकी मांग को दुर्योधन ने ठुकरा दिया। उसके हृदय मे प्रेम नही था। मोहावृत हृदय स्वार्थ का घर होता है। उस जीवन मे झंकार पैदा नही होती। दुर्योधन की मीठी-मीठी बातो से श्रीकृष्ण समझ गये, यहाँ प्रेम की गन्ध नही है, हमे विदुरजी के यहाँ चलना चाहिए, जहा सादगी, सरलता और प्रेम की त्रिवेणी बह रही है। अत श्रीकृष्ण विदुरजी के यहा अतिथि बन कर आये। विदुरजी उस समय घर पर नही थे। विदुर-पत्नी ने श्रीकृष्ण को देखा और हृदय मे प्रेम की उत्ताल तरगे हिलोरे लेने लगी। विदुरानी ने सब स्वागत किया और श्रीकृष्ण के लिए सादी चटाई बिछा दी। आश्रम कुटी मे उस समय और तो कुछ नही था, कुछ केले पडे थे। विदुरानी केले लाई और

आँखो मे देखे है लेकिन प्रेम की केवल कहानिया ही श्रवण की है, या प्रेम का प्रत्यक्ष प्रयोग कभी किया नही है। इसीलिए आपको प्रेम की अपेक्षा दण्डशक्ति और शस्त्रशक्ति पर अधिकाधिक भरोसा हो रहा है। पर विश्व के कार्यकारणो के अटल नियम कभी बदलते नही है। दण्ड मे, कठोरता मे, काषायिक भावो मे, शस्त्र प्रयोग मे शान्ति की आशा करना, खून मे खून के दाग साफ करने की दुराशा मात्र है। प्रेम मे ही हृदय के घाव धुल सकते है, प्रेम मे ही शत्रु को वश मे किया जा सकता है, प्रेम मे ही पापी को पुण्यात्मा बनाया जा सकता है। प्रेम ही ससार मे समस्त सुधारो का मूल माना गया है, प्रेम ही हिंसा और घृणा पर विजय प्राप्त कर सकता है, प्रेम ही क्रूर प्रकृति को शान्त-प्रकृति बना सकता है, प्रेम ही विश्वशान्ति की अमरबेल लगा सकता है, प्रेम ही अपराधियो और पापियो के अपराधो और पापो को घटा या हटा सकता है। बुराई को भलाई मे, और क्रूरता को शान्तता मे परिवर्तित करने की शक्ति अगर किसी मे है तो प्रेम ही मे है। प्रेम के कोमल कर-स्पर्श मे ही कठोरता और निष्ठुर-वृत्तियाँ समाप्त हो सकती है। प्रेम के प्रखर प्रकाश मे ही कठोरता का अन्धकार मिट सकता है, कठोरता और शस्त्रवृद्धि या दण्डशक्ति तो स्वय अन्धकार है, उसमे प्रकाश क्या खाक होगा ? आत्म-विश्वासपूर्वक अगर आप मन-वचन-काया की तारत्रयी को परस्पर अनुबद्ध करके जीवन-वीणा बजायेगे तो प्रेम की सुरीली झकार पैदा हुए बिना न रहेगी, उससे आप पशुता की प्रबलतम शक्ति को भी वश मे किये बिना न रहेगे।

विश्व के कई प्रजातन्त्री देशो मे आज दण्डशक्ति की जगह प्रेम-शक्ति का धडल्ले से प्रयोग किया जा रहा है, अपराधियो पर प्रेम का परीक्षण किया जा रहा है, और उनको प्रेम से सुधारने मे उन्हे पर्याप्त सफलता भी मिली है। जेलो मे अपराधियो का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जा रहा है और प्रेम से सुधारने के लिए नये-नये तरीके अजमाये जा रहे है। इनके आश्चर्यजनक परिणामो को देखकर दण्डशक्ति या शस्त्रशक्ति पर से विश्वास घटता जा रहा है।

दण्ड तो शरीर को बदल सकता है, आत्मा को बदलने की शक्ति उसमे कहाँ है ? जब तक इस शरीर का सचालक आत्मा नही बदले, इन्द्रियो का सचालक मन नही सुधरे, तब तक शरीर पर भी दण्ड के द्वारा परिवर्तन लाना मुश्किल काम है।

क्रूरता की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए प्रदेशी राजा को केशीश्रमण की प्रेम शक्ति ने ही तो बदला था और उसकी सूखी जीवन-सरिता मे प्रेम का प्रवाह बहा दिया था। प्रेमसिन्धु ईसामसीह ने प्रेम-बल द्वारा बडे-बडे पापियो का हृदय-परिवर्तन कर दिया था। दूर क्यों जाएँ, हमारे सामने ही, जीते-जागते गुजरात के रविशकर महाराज मौजूद है, जिन्होने अनेक क्रूरकर्मी डाकुओ का हृदय प्रेम से बदल दिया है।

जेरम जितना धनी था, उतना ही वह अत्याचारी था। जब वह टैक्स वसूली के लिए निकलता तो नगर-निवासी उसकी अमानुषिक यातनाओ के भय से जगल मे जा छिपते। उसके स्वामित्व मे कई शराबखाने भी चलते थे, जहाँ रात-दिन दुराचार

महलों की कतारें, कारें और शृंगारागारों की भरमार मिलेगी, लेकिन प्रेम की झंकार शायद ही मिले। स्नेह की बूँदें आज शहरों में सूख गयी हैं। शहर में किसी भी ऊँचे मकान वाले के यहाँ आप चले गये तो फीके पकवान ही मिलेंगे, इसीलिए सन्त विनोबा ने एक बार कहा था कि 'शहरों में घर तो बहुत नजदीक हैं, किन्तु घरवालों के दिल नजदीक नहीं, वे दूरातिदूर होते जा रहे हैं, स्नेह की सरिता सूख रही है।' वहाँ कोई भी पहुँच जाय तो प्रसन्नता लेकर नहीं लौटेगा, उसका मन भग्नाशा से ही भर जायगा। महलों में प्रेमभरे दिल शायद ही कहीं मिलें। दूसरी ओर गाँवों के झोंपड़े दूर-दूर बसे होते हैं। फिर भी उनका दिल नजदीक होता है। वहाँ आगन्तुक को भले ही रूखी-सूखी रोटी मिले लेकिन किसान के स्नेहघृत से वह चुपड़ी हुई होगी। वहाँ न तो रेडियो की झंकार है और न सिनेमाओं की बहार, लेकिन वहाँ आपको प्रेम की झंकार उनके जीवन में सुनायी देगी। झोंपड़ी से आगन्तुक व्यक्ति हृदय में स्नेह की मधुरता और सजीदगी लिए हुए विदा होगा, उसके मन में निराशा नहीं, सन्तोष का सचार होगा।

प्रेम में यही तो आकर्षण है कि दूसरे को कुछ भी न देकर मनुष्य उसे अपना बना लेता है। अगर आपने किसी को अपने यहाँ नौकर रखकर, उसकी तनख्वाह बहुत बढ़ा दी, उसको अनेक सहूलियतें दे दीं, परन्तु उसे प्रेम नहीं दिया, उससे जबरदस्ती जोर अजमाकर काम लिया तो वह आपका अपना नहीं बनेगा। किन्तु प्रेम से पूरा परिश्रम ले लेने पर भी उसे अखरेगा नहीं, वह मुस्कराता हुआ उसे करेगा।

प्रेम का प्रवाह मन्द पड़ जाने से ही, और स्वार्थ की वृद्धि होने से ही आज मालिक और मजदूरों, पिता-पुत्रों, पति-पत्नी, सास-बहू, देवरानी-जिठानी, भाई-भाई में आपस में महाभारत ठना हुआ है। मालिक चाहते हैं, मजदूर ज्यादा से ज्यादा काम करे, उसके बीबी-बच्चे बीमार हैं, तो मालिक को कोई चिन्ता नहीं, उसका शरीर ठीक नहीं रहता है या अध-भूखा रहता है तो मालिक को कोई परवाह नहीं, मानो नौकर या मजदूर कोई मशीन हो। मशीन को चलाने के लिए तेल दिया जाता है, आराम दिया जाता है, उसे स्वच्छ और साफ रखा जाता है, तभी वह काम दे सकती है, किन्तु मजदूर या नौकर से काम लेने के लिए मालिक स्नेह नहीं देते, आत्मीयता नहीं रखते, उसके दुःख को अपना दुःख नहीं मानते, तभी तो संघर्ष होता है।

आज समाज की मशीनरी के कल-पुर्जे रगड़ खा रहे हैं, परस्पर संघर्षण आये दिन समाज में होता रहता है। समाज की स्वस्थता और शान्ति खतरे में पड़ी है, उसका असली कारण यही है कि समाज की मशीनरी में स्नेह का तेल नहीं दिया जाता, ल्युब्रिकेटिंग नहीं किया जाता।

राष्ट्र के आपसी मामलों में, आन्तरिक समस्याओं पर परस्पर गर्मागर्म बहस छिड़ती रहती है, आपस में वादविवाद और संघर्ष कभी-कभी तो इतना उग्र हो जाता आग ही बरसने लगती है। वहाँ स्नेह लाने की जरूरत है।

पोषण ही करे, अपने अहं को 'स्व' मे केन्द्रित न करके विराट् विश्व मे फैला दे और सबका जोड़ने का ही काम करे, तोड़ने का नही। स्नेह और प्रेम के जल मे परिवार, समाज या राष्ट्र मे फैली घृणा, स्वार्थ और द्वेष की कालिमा को दूर करने की कोशिश करे। जो पहले दूसरो का सुख देखता है, बाद मे अपना, वही सच्चा प्रेमी हो सकता है। ऐसा प्रेमपरायण व्यक्ति दूसरो के लिए कष्ट सहने, आफतें झेलने से कभी नही घबराता। उसके मन मे कवि की यह अन्तर्वाणी रूपी वीणा झकृत हो उठती है—

"जो है प्रेमी वे कुदरत की बलाओ से नही डरते।
जो है आरफ जफाकश वे जफाओ से नही डरते।
मुसीबत के मुकाबिल भी वे सीधे तैर जाते है।
औ' आधी रात भी दरिया की छाती चीर जाते है॥"

गोस्वामी तुलसीदास के गृहस्थ-जीवन की कहानी इसी प्रकार की है। यद्यपि वे अपनी पत्नी के मोह मे पागल थे तथापि शुद्ध प्रेम की ओर उनका जीवन मुड गया था। उनकी पत्नी रत्नावली के अपने भाई के साथ पीहर चली जाने से तुलसीदास अत्यन्त विह्वल हो गये और आधी रात को ही घर से पत्नी से मिलने के चल पडे। इश्क के दीवाने तुलसीदास रास्ते मे पूरे जोर से बहने वाली नदी को भी एक तैरती हुई लाश के सहारे पार कर गये। अपने ससुराल का घर बन्द था। तुलसीदास जी को घर की दीवार पर चढकर अन्दर पहुँचने का उपाय सूझा। सयोगवश वहाँ एक साँप लटक रहा था। तुलसीदास जी ने उसे रस्सी समझकर पकडा और झट से घर के अन्दर कूद गये। तुलसीदास जी की पत्नी यह शोर सुनकर जाग उठी आकर देखा तो दग रह गयी। अपने पति को इस प्रकार मोह मे पागल देखकर उसने अपना कर्तव्य पूर्णतया निभाया और सच्चे पतिप्रेम का परिचय दिया। उसने तुरन्त एक चुभता दोहा सुना दिया—

"जैसो प्रेम हराम मे वैसो हर मे होय।
चला जाय बैकुण्ठ मे, पला न पकडे कोय॥'

"आपका जैसा इस हाड-मास के हरामी शरीर पर प्रेम है, वैसा ही अगर सारे जगत् के साथ हो जाय, प्रभु के प्रति हो जाय, दूसरो के दु खहरण करने मे लौ लग जाय तो आपके लिए स्वर्ग-मोक्ष कोई दूर की चीज नही है।"

प्रेमसिन्धु ईसामसीह ने प्रेम को प्रभु का रूप माना है। 'Love is God' यह उनका स्वर्णसूत्र है।

कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने प्रेम की बासुरी बजाकर समाज को आकर्षित कर लिया था, उनका प्रेमयोग तादात्म्य और तादृस्थ्य दोनो से युक्त था। उसे हम अनासक्तियोग कह सकते है। मतलब यह है कि विश्व के सभी धर्मों, दर्शनो और साहित्यों मे 'प्रेम' को उच्च स्थान दिया गया है। भारतीय मनीषियो ने प्रेम की महिमा का दिग्दर्शन निम्न श्लोक मे करा दिया है—

वे त्यागी, निःस्वार्थी सोयी हुई और बिखरी हुई शक्तियों को प्रेम से सगठित कर दे तो शत्रु को जीतना कोई कठिन नहीं है।" इन्द्र बोले—"तो भगवन्! ऐसी शक्तियों को हम कैसे पहचान सकेंगे?" ऋषि बोले—"आप दधीचि मुनि के पास जाइये! वे त्यागी हैं, परोपकारी हैं, दयालु हैं। अगर उनकी हड्डियाँ मिल जाय तो उन हड्डियों से जो शस्त्र निर्मित किया जायगा, उसके सामने वृत्रासुर के पैर नहीं टिक सकेंगे।" इन्द्र भौतिक सम्पत्ति का धनी था, उसे सहसा विश्वास नहीं हुआ कि हड्डियों से बने शस्त्र से वृत्रासुर पर विजय पाई जा सकती है, इसलिए ऋषियों के सामने पुनः निवेदन किया—"भगवन्! दधीचि तो बड़े दुर्बल, कृश और वृद्ध शरीर वाले हैं, उनकी हड्डियों में क्या होने वाला है और हम उनके पास जाएँ और कहीं वे याचना करने पर क्रुद्ध हो गए तो?" ऋषि कहने लगे—"वृत्रासुर जैसे महाबली पापात्मा का संहार इन भौतिक शस्त्रों से नहीं होगा। मैं जानता हूँ कि तुम्हारा विश्वास इन शस्त्रों पर है। उसके संहार के लिए तो पुण्य पुञ्ज पुरुषों का पुण्यमय शस्त्र ही कारगर हो सकता है। वे मुनि संसार की भलाई के लिए ही शरीर धारण किये हुए हैं। वे चाहते हैं कि मेरी मृत्यु भी भलाई के लिए हो, जल्दी जाओ, वे तो मौत की इन्तजार में हैं।" बस, फिर क्या था इन्द्र और जनता ने मिलकर तपोदीप्त दधीचि मुनि से सारी बात कही और उनसे हड्डियाँ देने की प्रार्थना की। दधीचि मुनि ने कहा—"बड़े ही आनन्द का समाचार है। मैं अब तक यही समझ रहा था कि अन्त समय में शरीर यों ही चला जायगा। अब आप आ गये हैं तो मुझे प्रसन्नता है। इस देह का उपयोग इससे अच्छा और क्या हो सकता है? इस सृष्टि में से दानवता का—आसुरी वृत्ति का लोप होता हो तो मैं एक बार क्या, हजार बार खुशी से शरीर छोड़ने को तैयार हूँ।" इन्द्र ने कहा—"महाराज, आप जैसे वृद्ध पुरुष से हमें युद्ध के लिए हड्डियों की सहायता माँगते शर्म आती है, पर क्या करें? आपकी देह इस मर्त्यलोक में और अधिक समय तक रहे, यह अच्छा है।" इन्द्र दधीचि मुनि को रोकते रह गए। पर उन्होंने देखते ही देखते शरीर छोड़ दिया। इन्द्र ने उनकी हड्डियों से शस्त्र तैयार किया। युद्ध भूमि में उस शस्त्र के प्रथम प्रहार से ही वृत्रासुर धराशायी हो गया।

बढ़ते हुए पाप को, आसुरी बल को, विशुद्ध पुण्य या परोपकारी वृत्ति के सिवाय कौन भगा सकता है? परोपकार के लिए सन्तों, सत्पुरुषों और विभूतियों का जीवन होता है। कहा भी है—

'परोपकाराय सतां विभूतयः'

इस संसार में अपना जीवन टिकाने के लिए, अपने पेट भरने के लिए तो कौए, कुत्ते, बिल्ली आदि सभी पशु-पक्षी प्रयत्न करते ही हैं, अपने लिए तो सभी जीते ही हैं, जीना उसी का सार्थक है, जो दूसरों के लिए जीए, दूसरों के पेट भरने के लिए, दूसरों की जिन्दगी सुख से बसर कराने के लिए जीवित रहे। स्कन्दपुराण में इसी आशय का एक श्लोक है—

करके दूसरो को देता है, चन्द्रमा अपनी शीतलता और चादनी दुनिया की भलाई के लिए बिखेर देता है, कलकल-छलछल करते हुए झरने और नदियाँ अपने मधुर, सुस्वादु जल का स्वय पान नही करती, किन्तु जगत् को वितरण कर देती है, हरे-भरे सघन वृक्ष और वनस्पतियाँ अपने मधुर फलो और हरियाली का स्वय आस्वादन नही करती, दुनिया को मुक्तहस्त से लुटा देती है, बादल अपना पानी स्वय नही पीता, ससार के कल्याण के लिए मूसलधार से बरसा देता है, हवा अपने लिए नही बहती, विश्व के प्राणियो का प्राण टिकाने के लिए बहती है, अग्नि अपने लिए नही जलती, दुनिया के आहार-पोषण के लिए जलकर कृतार्थ हो जाती है। प्रकृति के इन परोपकार कार्यों को देख कर क्या मानव को, जो ससार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है, पीछे रहना चाहिए? क्या उसे अपने प्राप्त साधनो का परोपकार मे सदुपयोग नही करना चाहिए? यही कारण है, उदार-हृदय साधु पुरुष दूसरो के लिए ही जीते है, दूसरो के लिए अपने प्राणो को भी सकट मे डाल देते है। एक कवि ने ठीक ही कहा है—

'परोपकाराय फलन्ति वृक्षा
परोपकाराय वहन्ति नद्य ।
परोपकाराय दुहन्ति गाव
परोपकाराय इद शरीरम् ॥'

अर्थात्—परोपकार के लिए वृक्ष फल देते है, परोपकार के लिए नदियाँ बहती है, परोपकार के लिए गाये दूध देती है और यह शरीर भी परोपकार के लिए मिला है।

इस ससार मे जिन्हे मनुष्य जन्म मिला है, जिन्हे मनुष्य शरीर के रूप मे उत्तम साधन मिला हे, मन, वचन, धन और अन्य साधन प्राप्त हुए है, अगर उन्हे सार्थक करना हो तो परोपकार ही एकमात्र उत्तम उपाय है। जो वास्तव मे मोक्ष प्राप्त करने के अभिलाषी है, उन्हे अपने शरीर, मन, वाणी, बुद्धि और सामाजिक पदार्थो पर ममत्व छोड़कर, स्वत्वविसर्जन कर सब कुछ बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय लगा देना चाहिए। ऐसे परोपकारपरायण व्यक्ति के लिए ससार मे कोई पराया नही रह जाता, उसके लिए सभी अपने होते है और वह सबका हो जाता है, उसके लिए तीनो लोक मे कोई भी वस्तु दुर्लभ नही रह जाती। सन्त तुलसीदास जी ने इसी बात को प्रगट करते हुए कहा है—

'परहित बस जिनके मन माँही,
तिन कँह जगदुर्लभ कछु नाँही।'

परोपकार मे ही सच्चा मनुष्यत्व, सच्ची इन्सानियत रही हुई है। परोपकार के बिना मनुष्यत्व की कल्पना करना, मनुष्य का उपहास करना है। सस्कृत के मनीषियो ने इसीलिए "परोपकारो हि मनुष्यत्वम्" कहा है। जिस मनुष्य मे परोपकार की वृत्ति नही होती उसकी मनुष्यो मे गणना करना भी ठीक नही।

कुछ उदारता बता देता है। यह भी परोपकार का एक नाटक है, वास्तविक परोपकार नहीं। जहाँ हम परोपकार की हदबन्दी करके चलते हैं, सीमाएँ बाँधकर आगे बढ़ते हैं, अपनी-अपनी ममता के, मान्यता के लेबल देखकर ही कुछ करना चाहते हैं, वहाँ परोपकार नहीं है, वह स्वोपकार भी नहीं, उग्रभाषा में कहूँ तो अपने ममत्व का, अपने अहत्व का ही पोषण है। परोपकार में हदबंदियां नहीं होती, सीमा-रेखाएँ नहीं खींची जाती, लेबल देखकर ही आगे नहीं बढ़ा जाता, साइन बोर्ड पर नजर डालकर काम नहीं किया जाता, वहां तो हृदय के सब ताले खुल जाने चाहिए, बुद्धि के सब आवरण हटा देने चाहिए, वाणी के सब स्रोत खुल जाने चाहिए, इन्द्रियों के व्यापार दूसरों की सेवा में ओत-प्रोत हो जाने चाहिए। क्या प्रकृति की सभी वस्तुएँ सीमा-रेखाएँ खींचकर दूसरे के लिए अपना व्यापार करती है, अपनी प्रवृत्ति करती है? वहाँ किसी जाति-पाँति, किसी धर्म-सम्प्रदाय या किसी भी देश-वेष का भेदभाव नहीं होता। वे प्रत्येक के लिए अपना दरवाजा खोल देती है, तब फिर मानव ही ऐसा क्यों सोचता है कि मैं अपने, अपनों के, या अपने माने हुओं के लिए तो अमुक वस्तु का अर्पण करूँगा, उपकार करूँगा, दूसरे के, दूसरे के माने हुओं के लिए नहीं? क्या यह स्वार्थ-भावना का ही एक प्रकार नहीं है?

हाँ, यह हो सकता है कि अकेला मानव सारे विश्व तक, विश्व के सभी राष्ट्रों तक नहीं पहुंच सकता, विश्व के सभी प्राणियों तक सम्पर्क साध नहीं सकता, किन्तु उसके विचार, उसकी बुद्धि, उसका हृदय तो विशाल, उदार और व्यापक होना चाहिए, जिसमें सारा विश्व समा सके। बुद्धि में तो उसे यही सोचना चाहिए, मन में उसे यही मनन करना चाहिए, वाणी से उसे यही वर्णन करना चाहिए, इन्द्रियों से उसे यही व्यापार करना चाहिए कि जो भी प्राणी या मानव मेरे सम्पर्क में आए, जिस किसी भी मनुष्य या प्राणी के मैं सम्पर्क में आऊँ, उन सब का भला मेरे द्वारा हो, उन सबका कल्याण, मंगल और शुभ हो, उनका जीवन ऊँचा, सुखी, स्वस्थ और निर्विकार बने, क्या इतनी-सी सकुचितता भी आपके मन, वाणी, बुद्धि, हृदय और इन्द्रियां दूर नहीं कर सकते? जो मनुष्य इतनी-सी मन, वाणी, बुद्धि और हृदय की सकीर्णता दूर नहीं कर सकता, जो अपने और अपनों के लिए ही सोचता है, करता है, भागदौड़ मचाता है, उसके जीवन में चमक कैसे आ सकती है, उसके जीवन में ऊँचाइयां कैसे प्राप्त हो सकती है? भले ही वह किसी सम्प्रदाय का उपासक हो, भले ही वह किसी धर्म में विश्वास रखता हो, भले ही वह स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म और महापुरुषों के वचनों पर श्रद्धा रखता हो, भले ही धार्मिक क्रियाकाण्डों में रात-दिन डूबा रहता हो, भले ही वह लम्बे-चौड़े लच्छेदार भाषण दे देता हो, भले ही वह अपनी जाति, प्रान्त, भाषा और देश के लिए एड़ी से चोटी तक पसीना बहा देता हो, अगर उसमें परोपकार की, बिना हदबन्दी की, बिना सीमा-रेखा की, बिना लेबल और साइन बोर्ड की असीम भावनाएं नहीं उभर रही हैं, उसकी इन्द्रियां, मन, बुद्धि और वाणी सम्पर्क में आने वाले किसी भी प्राणी और मानव के प्रति भलाई में लगती नहीं है, तो

रखवाली करने की, उसे खर्च करने की हरदम चिन्ता बनी ही रहेगी। ऐसे स्वार्थी व्यक्ति से न तो परिवार वाले खुश रहेंगे, न पड़ोसी और न जाति वाले ही। वह सबकी तरेरती हुई आंखों और तनी हुई भ्रुकुटियों की उपेक्षा करके अपने आपको भले ही सन्तुष्ट और सुखी मान बैठे, पर वास्तव मे ऐसा लोभी, स्वार्थी और अहजीवी व्यक्ति सुखी या सतुष्ट हो नही सकता। कदाचित् कुछ समय के लिए उसके पास धन की गर्मी हो जाय, साधनो की बहुलता का ज्वार उमड आए और वह उस धन के बल पर कुछ आदमियो को खरीदकर या पैसे देकर अपनी सेवा के लिए रख भी ले, अपनी रक्षा के लिए, अपनी सुखवृद्धि के लिए तैनात भी कर दे, फिर भी अपनी मनोवृत्ति सकुचित, स्वार्थी और अहजीवी होने के कारण आदमी उसके पास टिकेगे नही, टिकेंगे भी तो काम से जी चुराएँगे, केवल अपने पेट के लिए ऊपर से थोडा काम करके रह जायेंगे, सेठजी के मन मे हाय-हाय मची रहेगी, स्वार्थो की घुड-दौड के कारण मन कुढता रहेगा, मतलब यह कि ऐसी हालत मे भी वास्तविक सुख का आस्वाद तो उसे नही मिलेगा। वह तो तभी मिल सकता है, जबकि सेठजी का मन बदले, दिल उदार हो, परोपकार की वृत्ति लहलहाने लगे।

सारे पुराण लिखने के बाद व्यासजी से पूछा गया कि इन पुराणो का निचोड क्या है? इन १८ पुराणो मे आप क्या कर्त्तव्याकर्त्तव्य बताना चाहते है? मानव-जीवन के लिए सारभूत ग्राह्य बात कौन-सी है, इनमे? व्यासजी ने एक श्लोक मे वह रख दी—

"अष्टादश-पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकार पुण्याय, पापाय परपीडनम्॥"

अर्थात्—अठारह पुराणो मे व्यास के सारभूत वचन दो ही है—(१) पुण्य-प्राप्ति के लिए परोपकार और (२) पाप-सग्रह के लिए परपीडा।

अगर प्रत्येक मनुष्य इतने शास्त्र, इतने पुराण, इतने वेद और सूत्र न घोटकर सिर्फ इन दो बातो को ही याद रख ले, तब भी काफी है। इनमे से एक निषेधात्मक है दूसरी विधेयात्मक है। अर्थात् दूसरो को पीडा नही पहुचाना और यथाशक्य परोपकार करना।

परोपकार केवल धन से ही हो सकता है, ऐसा कई लोगो का सोचना है, परन्तु यह भ्रान्ति है। धन के सिवाय शरीर से, मन से, बुद्धि से, वाणी से और अन्य साधनो से भी परोपकार हो सकता है।

अच्छे कार्यों मे धन खर्च करना, गरीबो, असहायो, दीनो की मदद करना, अन्न, वस्त्र और औषधि आदि देना, किसी की शिक्षा के लिए सहायता देना, अन्य साधन जरूरतमन्दो को देना ये सब परोपकार के काम धन और साधनो से किये जा सकते है।

शरीर से किसी बीमार या वृद्ध की सेवा करना, किसी अशक्त को मदद देना,
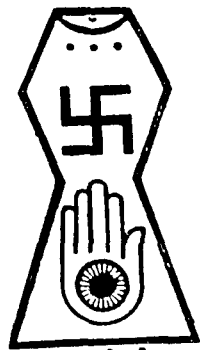
समवाय कहलाता है, स्वीकार करते हैं। यह मान्यता भले द्राविड़ प्राणायाम जैसी हो, तथापि उसका फलितार्थ तो यही है कि द्रव्य और गुण सदा काल साथ ही रहते हैं—एक को छोड़कर दूसरा नही रह सकता। यद्यपि यह मान्यता तर्क की कसौटी पर सही सिद्ध नही होती और इसकी छाया में मुक्ति का स्वरूप विकृत हो जाता है, तथापि इस दृष्टि से यहाँ विचार करना प्रस्तुत नही है।

ज्ञान और आनन्द

कुछ मनीषियो की धारणा है कि प्राणियो की सतत प्रवृत्ति का चरम लक्ष्य सुख नही, ज्ञान है। व्यक्त या अव्यक्त रूप मे ज्ञान की उपलब्धि के लिए ही मानव तथा मानवेतर प्राणी प्रवृत्तिशील रहते हैं। परन्तु ज्ञान[1] स्वय साध्य नही, साधन है। ज्ञान प्रकाश देता है, प्रेरणा देता है किन्तु तृप्ति प्रदान नही कर सकता। ज्ञान सवेदन हो सकता है, मगर उस सवेदन म झरने वाला रस तो आनन्द ही है। ज्ञान कई बार मनुष्य को व्याकुल बना कर छोड देता है। उस व्याकुलता की निवृत्ति ज्ञेय पदार्थ के यथोचित सेवन से उपलब्ध होने वाली रसानुभूति मे ही होती है। ज्ञान मे सन्तुष्टि नही, सन्तुष्टि रसानुभूति मे है। रसानुभूति द्वारा मन कृतार्थता अनुभव करता है।

'रस' का कोई एक नियत मापदण्ड नही है। जिस वस्तु मे एक को रसानुभव होता है, उसी को दूसरा नीरस समझकर छोड देता है। इस विभिन्नता के अनेक कारण हो सकते हैं, जिनमे योग्यता एव रुचि के स्तर की विचित्रता भी एक प्रधान कारण है।

कुछ भी हो, यह असदिग्ध है कि जीवनधारीमात्र की प्रवृत्ति का परम एव चरम लक्ष्य-बिन्दु सुख है और वह आत्मा की अपनी वस्तु है।

सुख की अभिव्यक्ति

प्रश्न किया जा सकता है—यदि सुख आत्मा की ही सम्पत्ति है तो सदैव स्वत प्राप्त रहना चाहिए। उसके लिए जीवनव्यापी सघर्ष की क्यो आवश्यकता होती है?

उत्तर है—जैसे आत्मिक ज्ञान अनन्त-असीम होने पर भी आवरण आ जाने के कारण विकृत और सीमित हो रहा है उसी प्रकार स्वाभाविक सुख-सम्पत्ति का भी आत्मा मे अनन्त, असीम और अक्षय कोष है परन्तु आवरण के कारण उसमे विकृति आ गई है। वह अल्पमात्रा मे ही अनुभव मे आ रहा है, ज्यो-ज्यो आवरण क्षीण होते जाते हैं, सुख की मात्रा वृद्धिगत होती जाती है, उसका रूप भी निखरता चला जाता है। पूर्ण निरावरण दशा मे सुख, ज्ञान की ही भाँति, अपने शुद्ध और पूर्ण स्वरूप मे

---

1 केवलज्ञान साध्य है, और मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय ये चार ज्ञान साधन हैं।

निशा मडरा रही है, दूसरा उषाकालीन लालिमा है, जिसके पीछे सहस्ररश्मि सूर्य की चिलचिलाती धूप चमक रही है। एक अवनति के गंभीर गर्त मे गिराता है तो दूसरा कृतकृत्यता प्रदान करता है। एक क्षणिक, दूसरा शाश्वत है। अतएव एक हलाहल के समान हेय है तो दूसरा पीयूष के सदृश उपादेय है।

यही कारण है कि भारतीय प्राज्ञ-पुरुषो ने भौतिक सुख को ही महत्त्व न देकर जीवन का साध्य न मानकर, आध्यात्मिक सुख को ही महत्त्व दिया है। उनकी गंभीर-गर्जना आज भी गगनमण्डल मे गूंज रही है कि आध्यात्मिक सुख ही सच्चा सुख है और भौतिक सुख सुखाभास है, मृगतृष्णा है और उसके पीछे अनन्त वेदनाओं का अजस्र प्रवाहित होने वाला स्रोत छिपा है।

स्पष्ट है कि जो सुख अन्त मे दुःख की प्रचण्ड ज्वालाओ मे झोंक देता है, वह किसी प्रज्ञावान एव दीर्घदर्शी पुरुष की साधना का लक्ष्य नही हो सकता। हमारी साधना का केन्द्रबिन्दु तो वही सुख हो सकता है, जिसमे दुःख के गरल का सम्मिश्रण न हो, जिसकी परिणति दुःखमय न हो, जो आत्मा को सदा के लिए परितृप्त एव कृतार्थ कर सके। प्रश्न यह है कि उस प्रकार का सुख कैसे प्राप्त किया जा सकता है।

कविवर दौलतराम जी की वाणी स्मरण आती है—

> आतम को हित है सुख सो सुख,
> आकुलता बिन कहिए।
> आकुलता शिवमाँहि न तातै,
> शिवमग लाग्यो चहिए।

अर्थात् सुख आत्मा के लिए हितकारी है और वह सुख निराकुल अवस्था मे ही प्राप्त किया जा सकता है। पूर्णरूपेण आकुलता का अभाव मोक्ष मे ही हो सकता है। जब तक पर-पदार्थो के साथ हमारा सम्पर्क है, उनके द्वारा हम सुखानुभूति की कल्पना करते है, तब तक निराकुलता की कल्पना नही की जा सकती। पर-पदार्थो का सयोग अशाश्वत ही होता है—वे मिलते है तो बिछुडते भी है। मिलने पर हमे हर्ष का और बिछुडने पर विषाद का अनुभव होता है। यही आकुलता है। इसका अन्त तभी हो सकता है जब उन पदार्थों से मानसिक मुक्ति मिल जाए। इस प्रकार सच्चे सुख की उपलब्धि मुक्ति मे ही है। अतएव विवेकवान पुरुष के लिए यही श्रेयस्कर है कि वह मुक्ति के मार्ग पर चलने का प्रयत्न करे। अब यह देखना है कि मुक्ति का मार्ग क्या है?

मुक्ति

भारतवर्ष के महान् आचार्यों ने मानव-व्यापारो का सूक्ष्म विश्लेषण करके चार पुरुषार्थो का प्रतिपादन किया है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चार पुरुषार्थो मे धर्म और अर्थ साधन तथा काम और मोक्ष साध्य है। धर्म मुक्ति का साधन है एव मुक्ति परम पुरुषार्थ है।

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी स्थिति प्राप्त कर लेने पर आत्मा जीवन्मुक्त बन जाता है। उसे अपरनिःश्रेयस का लाभ होता है। फिर भी परनिःश्रेयससिद्ध अवस्था तो प्राप्य ही रह जाती है।

कैवल्य प्राप्ति के पश्चात् सर्वज्ञ भगवान् योगनिरोध की चरम[1] क्रिया करते, जिसे आगमिक परिभाषा मे शैलेशीकरण कहते है। उस करण के द्वारा मानसिक, वाचिक और कायिक सूक्ष्मतम स्पन्दनो का भी निरोध हो जाता है और फलस्वरूप शेष समस्त कर्म क्षीण हो जाते है। यही परमनिःश्रेयस है, यही मुक्ति की उपलब्धि है, यही सिद्धि है और यही साधक की उग्रतर साधना की विश्रान्ति है।[2]

इस प्रकार ज्ञान और तदनुसारिणी क्रिया के समन्वय मे ही मुक्तिमार्ग की साधना सम्पन्न होती है।

ज्ञान-क्रिया का समन्वय

भारतीय दार्शनिको मे कुछ ऐसे भी है जो क्रिया-निरपेक्ष ज्ञान मे ही मोक्ष-लाभ का प्रतिपादन करते है और कुछ ऐसे भी है जो ज्ञानहीन क्रियामात्र मे। परन्तु जैनदर्शन उन दोनो एकान्तवादो का निषेध करके ज्ञान और क्रिया, दोनो को मुक्ति के लिए अनिवार्य स्वीकार करता है। उसका सदैव यह निर्घोष रहा है—

हत ज्ञान क्रियाहीन, हता चाज्ञानिना क्रिया।

क्रिया के बिना ज्ञान निष्फल है। जैसे रुग्ण व्यक्ति रोग के लक्षण, निदान और प्रतिकार के उपाय को जानकर भी जब तक औषधि सेवन नही करता, आरोग्य-लाभ नही कर सकता। इसी प्रकार रोग के लक्षण, निदान और प्रतिकार के उपाय को बिना जाने अटसट औषधि को उदरस्थ कर जाने वाला व्यक्ति भी नीरोगता प्राप्त नही कर सकता। यही नही, ऐसा करके कदाचित् वह अपने रोग की वृद्धि भी कर लेता है।

जन्मान्ध के समान अज्ञानी पुरुष आध्यात्मिक साधना के विषम पथ पर सही-सलामत अग्रसर नही हो सकता और यदि वह अग्रसर होने का साहस करे तो या तो ठोकर खाकर गिर जायगा या पथभ्रष्ट हो जायेगा। कोरे ज्ञान मे पथ-प्रदर्शन का सामर्थ्य हो सकता है, परन्तु उसमे गति-प्रगति नही, परिदृष्ट पथ पर पाँव बढाने की क्षमता नही। ज्ञान प्रेरणा दे सकता है, परन्तु प्रगति के अभाव मे लक्ष्य तक पहुँचना तो असम्भव है। अतएव जिस प्रकार ज्ञानहीन क्रिया कार्यसाधक नही, उसी प्रकार क्रियाहीन ज्ञान भी निष्फल है। समीचीन ज्ञान के आलोक मे की जाने वाली समीचीन क्रिया ही साधना को सफल बना सकती है।

---

1 यह क्रिया जीवन के अन्तिम क्षण मे होती है।
2 दशवैकालिक, अ० ४।

बनती है। यहीं से साधक का पथ पलटता है। दिशा बदलती है। जीवन ऊर्ध्वमुखी बनना प्रारम्भ होता है। समग्र विश्व जैसे आत्मा में विलीन हो जाता है।

दृष्टि बदल जाने पर सारी सृष्टि ही बदल जाती है। सम्यग्दृष्टि का लाभ होते ही भ्रम का निविड़ अन्धकार दूर हो जाता है और आत्मा एक अपूर्व, अनुपम, अद्भुत और अलौकिक आलोकपुंज से आलोकित हो उठती है। आत्मा में ही पारमात्मिक गुणसमृद्धि देख लेने पर समग्र संसार उसे निस्सार प्रतीत होने लगता है। उसे भास होता है—मेरी आत्मा स्वतन्त्र है, शाश्वत है, अनन्त चेतना और आनन्द से परिपूर्ण है। यह देह नहीं है, इन्द्रिय नहीं है, मन नहीं है, इन सबसे अतीत सच्चिदानन्द है। रागादिभाव आत्मा के निज स्वरूप नहीं, निमित्तजनित हैं, पर हैं—

> एगो मे सासओ अप्पा णाण-दंसण-लक्खणो।
> सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोग लक्खणा।
>
> —संथारपइन्ना

साधना की नींव

इस प्रकार सम्यग्दर्शन ही समग्र साधना का मूल आधार है। वही साधना का प्राण है। वही सर्वस्व है। वह है तो साधना के अन्यान्य अंग जुट ही जायेंगे, आज नहीं तो कल। वह नहीं है तो उनका जुटना निरर्थक है।

दर्शनशास्त्र में अपार पाण्डित्य प्राप्त कर लिया, न्यायशास्त्र का अगाध बोध प्राप्त हो गया, व्याकरण पढ़कर शब्दों की बाल की खाल उतारने लगे, काव्य, छन्द और अलंकारशास्त्र पढ़कर कल्पना के परों पर सवार होकर लम्बी उड़ानें भरने लगे, विज्ञान का गहरा अध्ययन करके आकाश-पाताल एक करने की सोचने लगे, प्रभावशाली प्रवचन करके श्रोताओं को हँसाया, रुलाया, चित्रलिखित-सा कर दिया, त्यागी-वैरागी का वेष धारण करके तीव्र तपश्चरण किया, काया को कृश किया, क्लेश दिया, परन्तु यह सब किस काम का है? यदि सम्यग्दर्शन न पाया। अंक के अभाव में शत नहीं सहस्र शून्य भी अन्ततः शून्य के ही व्यंजक हैं, निरर्थक हैं।

रुग्ण मनुष्य को पौष्टिक और स्वादिष्ट भोजन भी लाभदायक नहीं होता। वह उसे पचा नहीं सकता। अमृततुल्य भोजन भी उसके लिए गरल है। पथ्यकारी न होकर अपथ्यकारी है। इसी प्रकार दृष्टि शुद्ध न होने पर ज्ञान भी बालक के हाथ की तलवार है।

अध्यात्मतत्त्ववेत्ता इस प्रकार के ज्ञान को समीचीन ज्ञान नहीं मानते। उनका निर्णय स्पष्ट है—

नादंसणिस्स नाणं

जिसको यथार्थ तत्त्वबोध नहीं हुआ, जिसने स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं प्राप्त अपने आपको नहीं पहचाना, जिसका लक्ष्य सही निर्धारित नहीं हुआ, उसकी

के मूल्य मे बहुत बडा अन्तर है। उसका कारण यही है कि एक पर सरकार की मोहर है और दूसरे पर नही है। इसी प्रकार जिस ज्ञान और क्रिया पर सम्यग्दर्शन की छाप है, उसी का मूल्य है। जिस पर सम्यग्दर्शन की छाप नही, उसका कुछ भी मूल्य नही।

सहस्रो वर्षो तक मोती समुद्र मे निमग्न रहता है, किन्तु गलता नही। वही मोती, कहते हैं, हस के मुख मे जाते ही क्षणभर मे, गल कर पानी बन जाता है। कर्म-मोती भी सम्यग्दृष्टि के चारित्र का सम्पर्क होते ही गलित हो जाते है—विनष्ट हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शन का चमत्कार

सम्यग्दर्शन वास्तव मे एक अलौकिक ज्योति है। उसका चमत्कारिक प्रभाव हमारी कल्पना से परे और मति से अगोचर है। उसकी अद्भुत क्षमता का विचार चित्त मे विस्मय उत्पन्न कर देता है। जो जीव अनन्त अतीत मे मिथ्यात्व के प्रगाढ बन्धनो मे आबद्ध रहा है, वह यदि किसी प्रकार अन्तर्मुहूर्त जितने काल के लिए भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करले, तो भी उसके भवभ्रमण की एक काल सीमा निश्चित हो जाती है। उस सीमा के भीतर-भीतर ही उसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है। यद्यपि सम्यक्-दर्शन कुछ मिनिटो तक ही अस्तित्व मे रहा और फिर गायब हो गया, तथापि स्वल्प काल मे ही वह आत्मा मे ऐसी कोई विशिष्टता पैदा कर गया कि वह आत्मा मोक्ष का अधिकारी बन गया और उसका भवभ्रमण अनन्त न रहकर सान्त हो गया। सम्यग्दर्शन की यह अद्भुत क्षमता है।

सम्यग्दर्शन का महत्त्व प्रकट करते हुए आचार्य यथार्थ ही कहते है—**'दसण-मूलो धम्मो'**। धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। मूल के अभाव मे वृक्ष टिक नही सकता। सम्यग्दर्शन के अभाव मे धर्म नही टिकता।

ज्ञातपुत्र भगवान श्री महावीर की इस भविष्यवाणी से कौन जैन अनभिज्ञ होगा कि सम्राट् श्रेणिक आगामी उत्सर्पिणी काल मे तीर्थंकर का महामहिम पद प्राप्त करेंगे ? प्रश्न यह है कि किस योग्यता के बल पर उन्होने इस प्रकृष्टतम पुण्य प्रकृति का बन्ध किया ?

> न सेणिओ आसि तया बहुस्सुओ,
> न यावि पन्नत्तिधरो न वायगो।
> सो आगमिस्साइ जिणो भविस्सइ,
> समिक्ख पन्नाइ वर खु दसण ॥

जिस समय श्रेणिक ने तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया, उस समय उनमे कौन-सी विशेषता थी ? न वह बहुश्रुत विद्वान् थे, न प्रज्ञप्ति जैसे आगम के वेत्ता थे, और न उनको 'वाचक' पदवी ही प्राप्त थी। फिर भी वह आगामी काल मे तीर्थंकर होंगे। यह किसका पुण्य-प्रताप है ? यह केवल सम्यग्दर्शन का ही अपूर्व चमत्कार है।

मुनि उस दिन शाक ही लेकर लौट पडे अपने गुरुदेव के श्री चरणो मे।

गुरुदेव को आहार दिखलाया। उन्होंने खेद के साथ मुनि के चेहरे की ओर देखते हुए कहा—देवानुप्रिय! मासक्षमण की दीर्घ तपस्या के पारणा मे केवल शाक ही!

मुनि गभीर स्मितपूर्वक बोले—"भते! वह बहिन मानी ही नही। उसने सारा शाक दे दिया। यही इतना हो गया कि दूसरे आहार की आवश्यकता ही नही रही।"

श्रमण ने अपनी प्रशस्त परम्परा के अनुसार गुरुदेव को आमत्रित किया आहार ग्रहण करने के लिए, आमत्रण को अगीकार करके अथवा सहसा उदित हुई किसी आशका से प्रेरित होकर आचार्य ने शाक का एक कण मुख मे डाला और फिर अपने प्रिय अन्तेवासी से कहा—"वत्स, यह क्या लाया है? यह तो गरल है, हलाहल है।"

गुरुदेव ने शिष्य को आदेश दिया—"इस आहार को ऐसे स्थान पर परठ दो कि किसी जीव की हिंसा न हो।"

मास-तपस्वी पुन पात्र लेकर चल पड़ा वनप्रदेश की ओर। मुख-कमल मुरझा रहा था ग्रीष्म के दुस्सह ताप मे, किन्तु वह योगी चला जा रहा था ऐसी निर्जीव भूमि की तलाश मे, जहाँ शाक परठने से किसी जीव को आघात न पहुँचे।

एक स्वच्छ स्थान दिखलाई दिया, प्राणियो से रहित। एक कण आहार का डाला भूमि पर और वही बैठ कर देखने लगे—कोई जीव जन्तु तो नही आता है इसे खाने के लिए। मगर तीव्रघ्राण चीटियाँ शाक की गध से प्रेरित हो उमडने लगी, मानो हलाहल शाक के रूप मे मृत्यु उन्हे आह्वान कर रही थी।

अपने ऊपर आये उपसर्गों और परिषहो से कभी न हिलने वाला मुनि का दिल इस दृश्य को देखकर दहल उठा। मैं अपनी प्राणरक्षा के लिए इन असख्य जीवनधारियो के सहार का कारण बनूं!

करुणासागर का अत करण करुणा की तरल तरगो से तरगित होने लगा। अनुकम्पा की परमभावना हृदय मे ठाठें मारने लगी। सोचा—"गुरुदेव का आदेश है जहाँ परठने मे किसी जीव की हिंसा न हो, वहाँ शाक परठा जाय। ऐसा स्थान मेरे उदर से अतिरिक्त और कोई नही दीखता। बस, उन्होंने पात्र उठाया और जीव रक्षा के पवित्र विचार से, उस हलाहल को गले के नीचे उतार लिया।"

वह थे धर्मरुचि अनगार जो जीवरक्षा के लिए सदा मूर्तिमान आदर्श रहेगे।

एक विचारक अग्रेज कहता है—'तू अपना सुख पीछे देख, प्रथम दूसरे के सुख का विचार कर।'

मानने वाला नास्तिक। इस प्रकार प्राय प्रत्येक पन्थ के अनुयायी अपने को आस्तिक और दूसरे को नास्तिक मानते है। परिणाम यह है कि आज आस्तिक और नास्तिक शब्दो का मानो कोई नियत अर्थ ही नही रह गया है और यदि कुछ अर्थ है भी तो वह बोलने वाले की इच्छा पर ही शत-प्रतिशत निर्भर है।

नास्तिकता का आधार

यह सब पथिक सकीर्णता और साम्प्रदायिक व्यामोह का फल है। इस सकीर्णता और व्यामोह के कारण इतर सम्प्रदायो के लिए कटुक से कटुक शब्दो का प्रयोग किया गया है। धर्मान्ध लोग कहते है कि दूसरे सर्वथा मृषाभाषी है, पाखण्डी है, ढोगी है, म्लेच्छ है, काफिर है, धर्म का ठेका तो बस हमने ही ले रखा है। मुक्ति की चाबी हमारे पास ही है। जो हमारे विचारो से सहमत नही, वह नास्तिक है।

लेकिन जो जिज्ञासु है और सत्य को ही सर्वोपरि मानता है और अपने कदाग्रह के पक्ष मे सत्य को पतित नही बनाना चाहता, वह तो वास्तविकता का ही विचार करेगा और देखेगा कि शब्द शास्त्र 'आस्तिक' और 'नास्तिक' शब्दो के अर्थ के विषय मे क्या निर्णय देता है?

आस्तिक और नास्तिक शब्द सस्कृत भाषा के है, अतएव सस्कृत व्याकरण से ही उनके अर्थ की वास्तविकता का पता लग सकता है।

सस्कृत व्याकरण के प्रौढ आचार्य पाणिनि अपने अष्टाध्यायी ग्रन्थ मे कहते है—

अस्ति-नास्ति-दिष्ट मति ।

—अ० ४, पाद० ३, सू० ६०

भट्टोजी दीक्षित ने सिद्धान्त-कौमुदी मे इसका अर्थ किया है—'अस्ति परलोक **इत्येव मतिर्यस्य स आस्तिक, नास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिक**' अर्थात् जो निश्चित रूप से परलोक-पुनर्जन्म स्वीकार करता है, वह आस्तिक है और जो उसे नही अगीकार करता, वह नास्तिक है।

आस्तिक और नास्तिक शब्दो की निष्पत्ति 'अस्ति' और 'नास्ति' शब्द से हुई है। 'अस्ति' शब्द सत्ता का वाचक और 'नास्ति' शब्द निषेध वाचक है। जो पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म और इस प्रकार आत्मा के नित्यत्व पर विश्वास करता है, वह आस्तिक है, भले ही वह किसी मत की किसी पोथी को प्रमाणभूत स्वीकार करे या न करे। सच्चा आस्तिक आत्मा के सम्बन्ध मे सतत चिन्तन, मनन और निदिध्यासन करता है और सोचता है—मै क्या हूँ? कहा से आया और इस चोले को त्याग कर कहाँ जाऊँगा? मेरी इस चिर यात्रा की विश्रान्ति कहा होने वाली है? मेरा प्राप्य क्या है, इत्यादि।

श्रमण भगवान महावीर का महान् एव गम्भीर घोष जिसके कर्ण-कुहरो मे सदा गूँजता रहता है कि—

५

दर्शनाचार : एक अनुचिन्तन

पास ही रे हीरे की खान

जैसा कि प्रारम्भ मे कहा जा चुका है, ससार का प्रत्येक प्राणी सुख का अभिलाषी है, किन्तु ससार दु खो का आकर है। जिस ओर भी दृष्टि पसारकर देखते है, दु ख, सन्ताप और अशान्ति के काले-कजराले बादल ही मँडराते हुए दृष्टिगोचर होते है। सुमेरु तुल्य दु ख के अन्तराल मे कदाचित् राई जितना सुख है भी तो वह भी शहद-लपेटी तलवार की धार को चाटने के समान है। उसका परिणाम भयानक अशान्ति एव दु ख के रूप मे सामने आता है।

किसके चित्त मे शान्ति है ? किसके मन मे सन्तुष्टि है ? कौन निराकुलता का अमृत पान कर रहा है ? जो निर्धन और दरिद्र है, वे अर्थाभाव मे पीडा का अनुभव कर रहे है। धनवान अपने से अधिक धनी को देखकर ईर्ष्या की ज्वालाओ मे दग्ध हो रहा है, तृष्णा की तरगो मे डूब-उतरा रहा है। किसी मे ईर्ष्या और तृष्णा नही है तो वह धन के क्षीण हो जाने की कल्पना और तज्जनित भ्रांति से व्याकुल है। मनुष्य को मनुष्य से भय है। सारांश, समस्त ससार दु ख से परिपूर्ण है और कही भी सुख की उज्ज्वल किरण नजर नही आती। सन्त रामदास ने सत्य ही कहा है—**'मूर्खामाजी परम मूर्ख, जो ससारी मानी सुख।'** अर्थात् जो ससार मे सुख मानता है, वह मूर्खो मे भी परम मूर्ख है। वास्तव मे ससार मे दु ख इतना स्थूल है कि वह मूर्ख से मूर्ख मनुष्य की दृष्टि से भी छिप कर नही रह सकता। मगर जो उसे भी नहीं देख पाता या सुख के रूप मे देखता है, उसके लिए किस शब्द की खोज की जाय ? क्या काजल की कालिमा को दिखलाने की आवश्यकता है ? आप नही देखते—कोई रोग से आक्रात होकर कराह रहा है। कोई पत्नी, पुत्र आदि प्रियजनो की विरह-वेदना का दुस्सह भार वहन करता हुआ व्यथित हो रहा है। कोई अनिष्ट सयोग से छुटकारा पाने के लिए छटपटा रहा है। किसी को भूख निगल जाना चाहती है। फिर जन्म-जरा-मरण की भीति तलवार के समान सभी की गर्दन पर लटक रही है। इस प्रकार चारो ओर दु खो की, कष्टो की, व्यथाओ की और वेदनाओ की प्रचण्ड ज्वालाए धधक रही है। प्राणी मात्र इन ज्वालाओ मे झुलस रहा है। कहाँ है शान्ति ? कहाँ है सुख ?

निस्संकिय-निक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठीय ।
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्ल-पभावणा अट्ठ ॥
—उत्तराध्ययन २८, ३१

सम्यग्दर्शन के आठ आचार है—(१) निश्शकता, (२) निष्काक्षता, (३) निर्विचिकित्सा, (४) अमूढदृष्टित्व, (५) उपवृहण, (६) स्थिरीकरण, (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना ।

जिस प्रकार आठ अगो मे सम्पूर्ण शरीर का समावेश हो जाता है, या यो कहा जाय कि आठ अगो मे शरीर अन्तर्निहित है, उसी प्रकार इन आठ अगो मे सम्यग्दर्शन निहित है । जैसे शरीर के स्वास्थ्य के लिए उसके आठो अगो की सार-सम्भाल आवश्यक है, इसी प्रकार सम्यग्दर्शन को अविकृत रखने के लिए इन आठो अगो का सरक्षण अनिवार्य है ।

यहाँ इन आठो अगो का सक्षिप्त दिग्दर्शन कर लेना उपयोगी होगा ।

निश्शकता

यह सम्यक्त्व का प्रथम अग है । निश्शकता का अर्थ है—सर्वज्ञ एव वीतराग द्वारा प्ररूपित सत्य तथ्य तत्त्व के विषय मे शका न रखना, पूर्ण श्रद्धा रखना ।

श्रद्धा एव विश्वास के विना जीवन का विकास नही होता । हजारो-लाखो वर्षो तक उग्रतर तपश्चरण एव साधना करने पर भी जीवन मे तनिक भी परिवर्तन नही होता, अतएव श्रद्धाविहीन साधना किञ्चिन्मात्र भी मूल्य नही रखती । धर्मसग्रह मे श्री मानविजयजी कहते है—

जिनोक्ततत्त्वेषु रुचि श्रद्धा सम्यक्त्वमुच्यते

अर्थात्—जिनोक्त तत्त्वो पर अटल विश्वास होना श्रद्धा है और श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है, सम्यक्त्व है ।

जीवन मे सत्य के प्रति प्रगाढ आस्था व रुचि न हुई तो सत्य के प्रति अभिमुखता एव निष्ठा भी सम्भव नहीं है । सत्यनिष्ठा से जीवन मे मगलमय आलोक की किरणे स्फुरित होती है और उस आलोक मे विचरण करने का अपूर्व बल भी मिलता है । सत्यनिष्ठा मानव के जीवन को सत्यमय बना देती है, क्योकि श्रद्धा के साँचे मे ही जीवन ढलता है—

श्रद्धामयोऽय पुरुष ,
यो यच्छ्रद्ध स एव स ।
—गीता

सृष्टि नाना रूप है । उसमे अनेक तत्त्व स्थूल है तो अनेक ऐसे भी है जो अत्यन्त सूक्ष्म होने से साधारण मानव-बुद्धि की पकड मे नही आते । वे निगूढतत्त्व रहस्यमय ही रहे है और रहेगे । हमारी बुद्धि का मन्द-प्रकाश-प्रदीप उन्हे प्रकाशित नही

रहा था। उसे देखकर भगवान पार्श्वनाथ ने कहा था—नागम, यह अन्धश्रद्धा है। यह तुझे भी डुबाएगी और दूसरों को भी डुबाएगी।

अभिप्राय यह है कि अन्धश्रद्धा मे विवेक का अभाव होता है और जहाँ विवेक नही वहाँ धर्म कहाँ? श्रद्धा विवेक की पुत्री है। विवेक की छाया मे ही श्रद्धा परिपुष्ट होती है। इस प्रकार की विवेकपूत समीचीन श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन का प्रथम अग है।

निष्कांक्षता

भौतिक वैभव मे आकृष्ट होकर मनुष्य सत्यसकल्प से पराड्मुख हो जाता है और उसकी चकाचौंध मे उसे सही साधना-मार्ग तक नही सूझता। सासारिक सुख-सौन्दर्य का प्रलोभन मानव की मानस भूमि पर बलात् अधिकार जमा लेता है और वह उसका सवरण करने मे अक्षम हो जाता है। मोह, माया और ममता के बन्धना मे आबद्ध होकर आत्मधर्म से च्युत भौतिक भावो को अपनाने की इच्छा करने लगता है।

ऐसा मनुष्य कदाचित् गृहत्यागी या तपस्वी हुआ तो उसकी तपस्या या साधना का लक्ष्य भी भौतिक वैभव, ऐहिक चमत्कार और स्वर्गादि के पारलौकिक सुख होते है। यही जैनदर्शन की परिभाषा मे काक्षा है। सम्यग्दृष्टि मे इस प्रकार की काक्षा नही होती। उसे आत्मस्वरूप की सवित्ति और सम्प्राप्ति के सिवाय सभी कुछ निस्सार एव हेय प्रतीत होता है। वह स्वकीय आनन्दमय परमात्मस्वरूप मे ऐसा निष्ठावान बन जाता है कि किसी भी परभाव मे उसकी रुचि नही रह जाती।

निर्विचिकित्सा

शुद्ध स्वात्मोपलब्धि ही साधक की साधना का एकमात्र लक्ष्य होता है। आत्मस्वरूप को आच्छादित करने वाले आवरणो का निराकरण और निवारण करने से ही आत्मस्वरूप की उपलब्धि होती है। वह बाह्य सिद्धियो के लिए साधना नही करता। विश्व की समग्र सिद्धियाँ सम्यक्-साधना के प्रभाव से उसके चरण चूमने के लिए सदा लालायित रहती है, किन्तु यथार्थदर्शी साधक के समक्ष वे तुच्छ है, निस्सार है, धूलिकण से बढकर उनका मूल्य नही है।

चिन्तामणि के बदले कौन कोयला लेना पसन्द करेगा? कदाचित् कोई पसन्द करता है तो उसे विवेकवान नही कहा जा सकता। उसे वज्रमूर्ख ही कहना चाहिए। लौकिक सिद्धियाँ प्राप्त करने के उद्देश्य से साधना करना चिन्तामणि के बदले कोयला खरीदना है।

कृषक धान्य के लिए कृषि कर्म करता है, भूसा और घास के लिए नही। वह तो धान्य के साथ आनुषगिक फल के रूप मे, अनायास ही प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार साधना के आनुषगिक फल के रूप मे लौकिक सिद्धियाँ स्वत प्राप्त हो जाती है।

नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए पर्याप्त है। एक समय जिस शरीर के सौन्दर्य को देखकर बहिरात्मा जीव मुग्ध हो जाता है, क्षणमात्र में ही वह किसी रोग से जर्जरित होकर ऐसा विकृत और घृणित बन जाता है कि उसकी ओर आंख उठाने की भी इच्छा नही रह जाती। ऐसी दशा में शरीर, सौन्दर्य और बाह्य वेश-भूषा के पीछे पागल बनकर आत्म-सौन्दर्य को विस्मृत नही कर देना चाहिए, वरन् आत्मा की ही अलौकिक आभा को देखने का प्रयत्न करना चाहिए। मुनि के शरीर में स्थित आत्मा स्वभावतः ज्ञान, दर्शन, संयम, तप, त्याग आदि गुणों का निधान है। उसकी ओर ध्यान देने से ही आपकी आत्मा में भी उन अलौकिक सद्गुणों का अरुणोदय होगा। ऐसा करने से आपके अन्तर्जगत् का अन्धकार दूर होगा और एक अपूर्व ज्योति से जीवन जगमगा उठेगा।

आचार्यप्रवर समन्तभद्र अपने रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहते हैं—

स्वभावतोऽशुचौ काये, रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता॥

अर्थात्—शरीर तो स्वभाव से अपवित्र है, उसकी पवित्रता रत्नत्रय से है। अतएव शरीर की ओर लक्ष्य न देकर, गुणी के शरीर से घृणा न कर गुणों से प्रेम करना निर्विचिकित्सा है।

अमूढदृष्टिता

मूढता का अभिप्राय है—अज्ञान, भ्रम, संशय, विपर्यास। जब तक मनुष्य की दृष्टि में सम्यक्त्व नही आता, इन दुर्गुणों से पिण्ड छूटना सम्भव नही और जब सम्यक्त्व की अनूठी आभा आत्मा में उद्भासित हो उठती है तो चिरकालीन या अनादिकालीन नाना प्रकार के भ्रम एवं विपर्यास आदि का धुंधलापन टिक नही पाता। सम्यग्दृष्टि का दिमाग एकदम सुलझा होता है और हेय-उपादेय विषयक उसका विवेक निरन्तर जाग्रत रहता है। उसका निर्णय और व्यवहार सही दिशा की ओर ही झुकता है। वह गलत विचार से प्रेरित होकर गलत मार्ग पर नही चलता। यही सम्यग्दृष्टि की अमूढ-दृष्टिता है।

देखते है, मानव-जाति के विभिन्न वर्गों में भांति-भांति के वहम घर करके बैठे हुए हैं। उनकी गणना करना भी सम्भव नही है। तथापि जैनसाहित्य में उन्हें तीन भागों में विभक्त किया गया है—(१) देवमूढता, (२) लोकमूढता और (३) समय-मूढता। इनमें सभी प्रकार की मूढताओं का समावेश हो जाता है।

(१) देवमूढता—काम, क्रोध, मद, मोह आदि समस्त आत्मिक विकारों के पूर्ण विजेता (वीतराग) और अविरल ज्ञान-दर्शन आदि आत्मिक गुणों से सम्पन्न परम-आत्मा ही वास्तव में देव हैं। ऐसे देव ही आत्मशोधक साधक के लिए आदर्श और प्रेरणाप्रद हो सकते हैं। किन्तु इस तथ्य को न समझ कर अन्य प्रकार के देवों को, जो विकारों से मुक्त नही हैं, अपना आराध्य एवं उपास्य समझना और उन जैसे स्वरूप की प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाना देवमूढता है।

सम्यग्दर्शन के पृथक्-पृथक् पहलुओ का बोध कराने के लिए अन्य अनेक प्रकार के भेद-प्रभेद भी किये गये है। उनके चार प्रकार मे दो-दो भेद इस प्रकार है—

(१) द्रव्य सम्यक्त्व और भावसम्यक्त्व[1]

(२) निश्चय सम्यक्त्व और व्यवहार सम्यक्त्व[2]

(३) पौद्गलिक सम्यक्त्व और अपौद्गलिक सम्यक्त्व[3]

(४) निसर्गज सम्यक्त्व और अधिगमज सम्यक्त्व[4]

विशुद्ध रूप मे परिणत किये हुए मिथ्यात्व के पुद्गल द्रव्यसम्यक्त्व कहलाते है और उन पुद्गलो के निमित्त से होने वाली तत्त्वश्रद्धा भावसम्यक्त्व कहलाती है।

राग-द्वेष और मोह का अत्यन्त मन्द हो जाना, आत्मिक गुणो मे रमण करना, पर-पदार्थो मे आत्मीयता का भाव हट जाना एव देह मे रहते हुए भी देहाध्यास का छूट जाना निश्चयसम्यक्त्व है। अरिहन्त भगवान को देव मानना, पच महाव्रतो का पालन करने वाले मुनियो को गुरु मानना और जिनेन्द्रप्ररूपित धर्म को ही श्रेयस्कर धर्म समझना व्यवहार सम्यक्त्व है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व पौद्गलिक सम्यक्त्व कहलाता है और क्षायिक तथा औपशमिक सम्यक्त्व अपौद्गलिक सम्यक्त्व। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की अवस्था मे कर्मपुद्गलो का प्रदेशानुभव होता है, किन्तु क्षायिक और औपशमिक सम्यक्त्व मे न प्रदेशानुभव होता है और न विपाकानुभव ही।

निसर्गज और अधिगमज सम्यक्त्व के सम्बन्ध मे पूर्व कहा जा चुका है।

अपेक्षाभेद से सम्यक्त्व तीन प्रकार से भी निरूपित किया गया है। क्षायिक आदि तीन भेदो का उल्लेख किया जा चुका है, किन्तु कारक रोचक, और दीपक के भेद से भी उसके तीन भेद होते है।[5]

---

१ प्रवचन सारोद्धार द्वार १४९, गा० ९४२, टीका।

२ (क) प्रवचन सारोद्धार द्वार १४९, गा० ९४२ टीका।
   (ख) कर्मग्रन्थ प्रथम, गा० १५

३ प्रवचन सारोद्धार

४ (क) स्थानाङ्ग २, उ० १—सूत्र ७०
   (ख) प्रज्ञापना प्रथम पद सू० ३७
   (ग) तत्त्वार्थसूत्र अ० १० सूत्र ३

५ (क) विशेषावश्यक भाष्य, गाथा २६७५,
   (ख) द्रव्यलोकप्रकाश, तृतीय सर्ग ६६८ से ६७०
   (ग) धर्मसग्रह,
   (घ) श्रावकप्रज्ञप्ति गाथा ४९-५०।

परदेश में स्थित उसके पुत्र के हृदय की गति बन्द हो जाती है और उसका प्राणान्त हो जाता है। डाक-तार-कर्मचारियों की हड़ताल के कारण अव्यवस्था होने से पाँच दिन बाद उस व्यक्ति को अपने पुत्र की मृत्यु का पता चलता है।

जब तक उसे पुत्र की मृत्यु का ज्ञान नहीं था, वह सुख-चैन में था। ज्ञान होते ही उसका समग्र सुख, सहस्रगुणित दुःख के रूप में परिणत हो गया। ऐसी स्थिति में ज्ञान को सुख की खान समझा जाय या दुःख की खान ?

अज्ञानवादी इसी प्रकार के तर्क उपस्थित करके ज्ञान की हेयता और अज्ञान की उपादेयता सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। उनके मन्तव्य के अनुसार अज्ञान ही श्रेयस्कर है। जिन जड़-पदार्थों में लेशमात्र भी ज्ञान नहीं है, वे सब प्रकार की दुःखानुभूति से बचे हुए हैं। उन्हें न चिन्ता है, न शोक है, न खेद है, न उद्वेग है। अपने स्वभाव में मस्त हैं। किन्तु अज्ञानवादी का यह तर्क वस्तुतः अज्ञानप्रसूत ही है।

एक व्यक्ति की मृत्यु का विभिन्न लोगों पर अलग-अलग प्रकार का असर होता है। गाँधीजी ने भारतवर्ष के लिए क्या नहीं किया ? स्वदेश की स्वाधीनता के लिए अपने सुखों का बलिदान किया, घोर से घोर यातनाएँ सहन की। उनकी समस्त शक्तियाँ स्वदेशवासियों के हित के निमित्त ही समर्पित रहीं। उनके मारे जाने का समाचार फैलते ही न केवल भारतवर्ष, वरन् संसार भर के विचारशील लोग शोक-सागर में निमग्न हो गये। परन्तु तब भी गोडसे जैसी विचारधारा के लोगों ने घी के दिये जलाये।

इन परस्पर विरुद्ध दिशागामी प्रभावों के रहस्य का विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी घटना मनुष्यों की विभिन्न प्रकार की मनोवृत्तियों के कारण ही भिन्न-भिन्न प्रकार के असर पैदा करती है। घटना अपने आप में कोई प्रभाव नहीं रखती। ऐसा होता तो एक घटना का प्रभाव सभी पर एक-सा होता। पुत्र की मृत्यु का समाचार ज्ञात करके पिता को जो असीम दुःख-वेदना होती है, उसका प्रधान कारण उसकी पुत्र के प्रति रागात्मिका मनोवृत्ति है।

संसार में प्रतिदिन सहस्रों मानव काल की विकराल दाढ़ों में पिस रहे हैं। कौन किसके लिए मातम मनाने बैठता है। मगर जिसका जिसके प्रति अनुराग-मोह है, वही उसके लिए शोक का अनुभव करता है। अतएव स्पष्ट है कि दुःख और शोक मोहजनित है, ज्ञानजनित नहीं।

ज्ञान और भय

भय के सम्बन्ध में भी यही समझना चाहिए। जब तक बगल में बैठे सर्प का पता नहीं चलता, मनुष्य निर्भय रहता है। पता चलते ही वह भय के कारण कांप उठता है और भागना सम्भव हो तो भाग खड़ा होता है। किन्तु इस प्रकार की भीति के अन्तस्तल में भी प्राणों का मोह ही छिपा है। मनुष्य चिड़ियाघर में जाकर भयंकर से भयंकर नाग को देखता है, कई बार उसके साथ छेड़छाड़ भी करता है, मगर मन

ज्ञान की तरंगें

विविधता का कारण

जल अपने आप में एकरूप होने पर भी विविध उपाधियों के सम्पर्क से नाना रूप प्रतीत होता है। जब आसमान से बरसता है तो उसमें किसी प्रकार की भिन्नता नहीं होती। तदनन्तर वह नदी में पहुँचकर नदी का जल कहलाता है, सरोवर में पहुँच कर सरोवर का, कूप में जाकर कूप का और सागर में मिलकर सागर का कहलाने लगता है। यही, नहीं विभिन्न प्रकार की पृथ्वी के संसर्ग से उसकी प्रकृति में भी अन्तर पड़ जाता है। एक जल हल्का और दूसरा भारी होता है। एक खारा, दूसरा मीठा हो जाता है। इस प्रकार मूल में एक प्रकार का जल होने पर भी संयोग से नाना नाम और नाना रूप धारण कर लेता है।

जीव के चेतनागुण की भी यही स्थिति है। मूल में, समस्त जीव एक-सी चेतना के धनी हैं, किन्तु अनेक प्रकार की उपाधियाँ उसमें विभिन्नता उत्पन्न कर देती हैं।

इन सब उपाधियों को साधारणतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—विषय अर्थात् ज्ञेय पदार्थ और कारण अर्थात् ज्ञान-जनक साधन। इन्हीं दो उपाधियों के कारण एक चेतनागुण अनेक, असंख्य और अनन्त रूप धारण कर लेता है।

जगत् के समस्त पदार्थ सामान्य विशेषात्मक हैं, अर्थात् सामान्य अंश और विशेष अंश का समन्वय ही वस्तु है। चेतना के द्वारा जब सामान्य अंश ग्राह्य होता है तब चेतना 'दर्शन' कहलाती है और जब वही चेतना वस्तु के विशेष अंश को ग्रहण करती है तो उसे 'ज्ञान' संज्ञा प्राप्त होती है। इस प्रकार विषयभेद से चेतना, दर्शनचेतना या दर्शनोपयोग और ज्ञानचेतना या ज्ञानोपयोग के नाम से द्विविध बन जाती है।

चक्षुरूप साधन के द्वारा व्यापृत होने वाली दर्शनचेतना चक्षुदर्शन और चक्षुभिन्न इन्द्रियों द्वारा व्यक्त होने वाली अचक्षुदर्शन कहलाती है। जिस दर्शनचेतना में इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं रहती और जो रूपी पदार्थों के सामान्य अंश को ही ग्रहण करती है, वह अवधिदर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। समस्त रूपी-अरूपी पदार्थों के

२ सत्याणुव्रत—स्थूल असत्य भाषण करना, अर्थात् जिस असत्य से अनर्थ उत्पन्न हो सकता है, जिसके प्रयोग से किसी को क्षति होती हो, किसी की प्रतिष्ठा को धक्का लगता हो और जो असत्य लोकनिन्दित हो, उसका प्रयोग न करना।

३ अस्तेयाणुव्रत—राज्यदण्डनीय चोरी न करना।

४ ब्रह्मचर्याणुव्रत—परस्त्रीगमन न करना और स्वस्त्रीगमन में भी मर्यादायुक्त होना।

५ परिग्रहपरिमाणाणुव्रत—तृष्णा और लालसा को सीमित करने और व्याकुलता से बचने के लिए सचित्त, अचित्त एवं मिश्र परिग्रह की सीमा निर्धारित कर लेना।

तीन गुणव्रत[1]

६ दिग्व्रत—दसों दिशाओं में आने-जाने की मर्यादा करके, उसका उल्लंघन न करना।

७ उपभोग-परिभोग परिमाण—इस व्रत में, एक ही बार काम में आने योग्य अन्नादि तथा पुनः-पुनः भोगने योग्य वस्त्रादि पदार्थों की मर्यादा की जाती है। यह भोगोपभोग परिमाण व्रत, मूल व्रत, (परिग्रह परिमाण) की पुष्टि के लिए आवश्यक है। दोनों का उद्देश्य जीवन की बढ़ी हुई अमर्याद आवश्यकताओं को नियन्त्रित करना है। जब तक मनुष्यजीवन में सन्तोषवृत्ति का उदय नहीं होता और आवश्यकताओं को नियन्त्रित एवं सकुचित नहीं किया जाता तब तक जीवन शान्तिमय, आकुलतारहित और धर्मोन्मुख नहीं बन सकता। आज जो सर्वव्यापी अशान्ति दिखलाई देती है, उसका विषमय मूल आवश्यकताओं की अनाप-शनाप वृद्धि में ही है। सुख-सन्तोष की प्राप्ति के लिए यह दोनों व्रत अनिवार्य हैं।

८ अनर्थदण्डविरमण—शरीररक्षा आदि के लिए अनिवार्य आवश्यक दण्ड अर्थदण्ड कहलाता है और निरर्थकदण्ड अनर्थदण्ड है। उसका त्याग कर देने से अनायास ही बहुत से पापों से बचाव हो सकता है।

चार शिक्षाव्रत[2]

९ सामायिक व्रत—आर्त्त-रौद्र ध्यान का तथा पापमय कार्यों का त्याग करके एक मुहूर्त पर्यन्त समभाव में रहना सामायिक है। इस व्रत में समग्र जीवन को समतामय बनाने का अभ्यास किया जाता है।

१० देशावकाशिकव्रत—दिशाव्रत में किये हुए परिमाण को दिन में, रात्रि में या प्रहरादि काल तक के लिए और अधिक संक्षिप्त कर लेना।

---

१ वे ही उपरोक्त ग्रन्थ।

२ (क) आवश्यक बृहद्वृत्ति प्रत्याख्यानाध्ययन—आचार्य हरिभद्र।
(ख) प्रथम पञ्चाशक गाथा—२५ से ३२ तक।

१६

श्रमण-धर्म

सर्वविरति

मनुष्यों का अधिक भाग ऐसा है जो अपने जीवन को, जीवनरक्षा के प्रयासों में ही खपा देता है। अन्न-वस्त्र आदि आवश्यक पदार्थों की उपलब्धि करके जीवन को टिकाये रखना ही मानो उनके जीवन का चरम उद्देश्य है। यह बात अलग है कि उनके प्रयास अन्त में धूल में मिल जाते हैं और जीवन का अवश्यम्भावी अन्त उन्हें विफलता का ही पुरस्कार प्रदान करता है, मगर जब तक वे जीते हैं, जीवन-रक्षा के स्थूल प्रयासों में ही संलग्न रहते हैं।

जीवन क्या है ?

कुछ लोग ऐसे भी हैं जिन्हें जीवनयापन के साधन अनायास ही प्राप्त हैं और प्रचुरता से प्राप्त हैं। उन्हें जीवन-साधनों के लिए खास प्रयास करने की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु साधनों की प्रचुरता ही उन्हें आत्म-विस्मृत बना देती है। वे भोग उपभोग की सामग्री में ही खो जाते हैं। विलास के बीहड़ अन्धड़ में, आक की रुई के समान उड़ते रहते हैं। विलास की वारुणी उन्हें होश में नहीं आने देती। जब देखते हैं, तब बाहर की ओर ही देखते हैं। अपनी ओर नजर करने की फुर्सत ही उन्हें नहीं होती।

उंगलियों पर गिनने योग्य विरले पुरुष ही हैं जिनके हृदय में जीवन-सम्बन्धी जिज्ञासा का प्रादुर्भाव होता है और जो जीवन के सम्बन्ध में गहराई से विचार कर सकते हैं। जिनका वैचारिक स्तर उच्चकोटि का है, वे ही उस सम्बन्ध में विचार करते हैं।

जीवन-सम्बन्धी जिज्ञासा का प्रथम रूप है—वस्तुतः यह जीवन क्या है? इसकी सार्थकता और धन्यता कहाँ निहित है? क्या करके हम जीवन का सदुपयोग कर सकते हैं? अपने-आपको पहचानना कितना कठिन और कितना सरल है।

जीवन का सदुपयोग

मानव-जाति की महान् और सर्वोत्तम विभूतियाँ सनातन-काल से इन प्रश्नों

साधना के अभिलाषी ! तू जानता है कि मैं बाह्य पदार्थों से दूर भागकर त्यागी बन जाऊँगा, मगर भाग कर जाएगा कहाँ ? विश्व के किस कोने में बाह्य पदार्थ नहीं है ? सिद्धशिला पर भी, जहाँ सिद्ध आत्मा विराजमान हैं, छहों द्रव्य विद्यमान हैं। अतएव भाग कर त्यागी कहलाने का मनोरथ व्यर्थ है। तू जहाँ है, वहीं रह सकता है, बाह्य पदार्थ भी वहीं रहेंगे, केवल भावना को बदल डालने की आवश्यकता है। स्वत्व भावना की डोरी से तूने उन्हें अपने साथ बाँध रखा है, उसे काट कर फेंक दे। फिर तू तू है, वे वे हैं। वे तेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते।

चमड़े के जूते पहन लेने पर सारी पृथ्वी चर्म मण्डित-सी हो जाती है, उसी प्रकार ममत्व त्याग देने पर सभी 'स्व' 'पर' बन जाते हैं।

सर्वविरति का प्राण

निर्ममत्व की यह साधना सर्वविरति का प्राण है। जिस साधक के अन्तःकरण में ममत्वभाव पूरी तरह हट गया, समभाव ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया, वह सभी प्रकार के सावद्य व्यापारों से अनायास ही बचा रहता है। वह न किसी को पीड़ा पहुँचा सकता है, न असत्य भाषण का कोई कारण उसके सामने होता है। वह पाप मात्र से पूर्णरूपेण विरत हो जाता है। यही सर्वविरति कहलाती है।

सर्वविरत साधक सतत जागृत रहता है। उसका समग्र जीवन-व्यापार विवेक की कसौटी पर कसा होता है। प्रत्येक क्रिया में 'समिति'[१] की सुधा घुली रहती है। वह कर्म करता हुआ भी आसक्ति के कल्मष से लिप्त नहीं होता। उसका मन, वचन और तन गुप्त अर्थात् नियंत्रित होता है।[२] अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों की भावना जीवन में मूर्त्त रूप ग्रहण कर लेती है।

☆

---

१ विशेष विवरण के लिए देखें—
(क) समवायांग ५
(ख) स्थानाङ्ग ५ उद्देशक
(ग) उत्तराध्ययन अ० २४
(घ) धर्मसंग्रह, अधिकार ३, श्लोक ४७

२ (क) उत्तराध्ययन, अ० २४
(ख) स्थानाङ्ग ३, उद्देशक १, सू० १२६

हिंस्र जन्तुओं पर विचार करते ही हमारा ध्यान सर्वप्रथम सिंह की ओर आकर्षित होता है। व्याकरणशास्त्र के अनुसार भी हिंस् धातु से 'सिंह' शब्द व्युत्पन्न हुआ है। वास्तव में सिंह अत्यन्त खूंखार जानवर है और उसकी स्मृति ही साधारण मनुष्य के हृदय को प्रकम्पित कर देती है। सामना हो जाने पर तो कहना ही क्या है? बड़े-बड़े शूरवीरों के भी देवता कूच कर जाते हैं और होशहवास गायब हो जाते हैं। मगर क्या कभी सोचा है आपने कि उस घोर हिंस्र प्राणी के कलेजे में भी करुणा की कोमल मूर्ति विद्यमान रहती है, जो अहिंसा का ही एक रूप है। अगर सिंह में अहिंसा की वृत्ति न होती तो सिंहजाति इस धरातल से कभी की समाप्त हो गई होती। सद्य प्रसूत सिंह शावक की प्राणरक्षा कौन करता है? तब वह अपनी शक्ति के बल पर जीवित नही रहता, वरन् सिंह-सिंहिनी की अहिंसा-करुणा की वृत्ति ही उसके प्राणों का सरक्षण और सपोषण करती है। इसीलिए कहता हूँ कि अहिंसा आत्मा का स्वभाव है और जो जिसका स्वभाव है, वह उससे पूरी तरह अलग नहीं हो सकता।

अहिंसा का इतिवृत्त

अहिंसा का इतिवृत्त क्या है? वह कब इस धराधाम पर अवतरित हुई? किस लोकोत्तर महापुरुष के मस्तिष्क में उसने जन्म लिया? इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है और न हो सकता है। पुरातन होने ही से कोई वस्तु उपादेय हो और नूतन होने से हेय हो जाय, यह हेयोपादेय की कोई कसौटी नही है। अहिंसा अगर इस युग का आविष्कार होती तो भी अपनी विशिष्टता के कारण वह उपादेय ही होती, मगर ऐसा है नहीं। वस्तुत अहिंसा सनातन सत्य है और किसी भी काल में उसके अभाव की कल्पना नहीं की जा सकती।

मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि अनादि काल से अहिंसा का एक ही रूप रहा है और युग के चिन्तन का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वास्तव में अहिंसा का स्वरूप अत्यन्त विराट् है और वह हमारे सहस्रों रोगों की एकमात्र अमोघ औषध है। इसी से अतीत में वह नाना रूपों में मानव-जाति के समक्ष प्रस्तुत हुई है और जब समाज में जिस रोग ने अपना सिर उठाया, उसके एक विशिष्ट रूप ने उसका प्रतीकार किया है।

जैन इतिहास के वेत्ता भलीभाँति जानते है कि भगवान अरिष्टनेमि ने, जिनका उल्लेख वेदों में भी मिलता है, किस प्रभावशाली तरीके से हिंसा का प्रतीकार किया था! तत्कालीन क्षत्रिय-वर्ग में जिह्वा-लोलुपता ने अपना आसुरी स्वरूप ग्रहण कर लिया था। वे मासभक्षी हो गये थे। तब विवाह के ऐन अवसर पर अरिष्टनेमि तोरण से वापिस लौट गये पशुओं की सहानुभूति से। श्रीकृष्ण ने सौ-सौ बार मनुहार की, परन्तु अरिष्टनेमि के उस सत्याग्रह को वे भग न कर सके। उनके इस त्याग ने क्षत्रियों के नेत्र खोल दिये।

भगवान पार्श्वनाथ ने अपनी कुमारावस्था में नाग जैसे विषधर की भी रक्षा के लिए एक महान् गिने जाने वाले तपस्वी से मोर्चा लिया और अहिंसा की सूक्ष्मता की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया।

लिए एकान्तत त्याज्य है। इसी अभिप्राय से अहिंसा और सत्य के पश्चात इसे तीसरा स्थान दिया गया है।

अस्तेय व्रत का दायरा उसके सामान्य अर्थ तक सीमित नही है। विचार करने और शास्त्रो का गभीर भाव से अध्ययन करने पर विदित होगा कि उसमे भी विशाल आशय निहित है और चौर्य की जो अनेक शाखाएं-प्रशाखाएँ है, उन सब का परित्याग करना अस्तेयव्रत के अन्तर्गत है। शास्त्रकार कहते है—

> पतित विस्मृत नष्ट, स्थित स्थापितमाहितम्।
> अदत्त नाददीत स्व, परकीय क्वचित्सुधी ॥
>
> —योगशास्त्र

प्रशस्तबुद्धि पुरुष परकीय द्रव्य को, चाहे वह रास्ते मे गिर गया हो, कही रखने के पश्चात् विस्मृत हो गया हो, गुम हो गया हो, घर मे रखा हो, धरोहर के रूप मे रखा गया हो अथवा गाड़कर छिपाया हो, अदत्त ग्रहण नही करता।

प्रामाणिकता की पुकार

आज बहुत से लोग ऐसे है, जो राह चलते गिरी हुई किसी की बहुमूल्य वस्तु को निस्सकोच उठा लेते है और उसे चोरी नही समझते। किन्तु ऐसा करना अधर्म ही नही, अनैतिकता भी है। प्रामाणिक पुरुष कदापि ऐसा व्यवहार नही करते। उन्हे इस प्रकार किसी की कोई वस्तु मिल जाती है तो वे उसके वास्तविक स्वामी की खोज करते है और उसके समीप पहुँचा देने का प्रयत्न करते है। पश्चिम के देशो मे इस प्रकार की प्रामाणिकता प्रचुरता के साथ सुनी जाती है, मगर खेद है कि इस देश मे, जो धर्मभूमि माना जाता है, अधिकाश जन इस प्रामाणिकता से भी हीन है।

चोरी महान पाप है

धरोहर को हड़प जाने की घोर विश्वासघातपूर्ण घटनाएँ किसने नही सुनी होगी? कोई वृद्धा या विधवा अथवा असमर्थ पुरुष अपने प्राणो के समान प्रिय पूँजी का जब स्वय सरक्षण नही कर सकता तो दूसरे को प्रामाणिक समझकर उसकी रक्षा का भार सौपता है। मगर जब रक्षक ही उसका भक्षक बन जाता है और उस धरोहर को हड़प जाता है तो उस गरीब को कितनी मार्मिक पीड़ा होती होगी, यह कल्पना का विषय है। धरोहर को हड़पना जीवन के आधार को निर्दयतापूर्वक नष्ट कर देना है। प्राणो का अपहरण करना भी कदाचित् इतना पीड़ाप्रद नही। प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र ने यथार्थ ही कहा है—

> एकस्यैकक्षण दु ख, मार्यमाणस्य जायते।
> सपुत्रपौत्रस्य पुनर्यावज्जीव हृते धने ॥

किसी मनुष्य का वध किया जाता है तो उसे थोड़ी-सी देर के लिए व्यथा का

मगर उनमे कदाचित् उतना साहस नही, धैर्य नही और नैतिकता के प्रति उच्चकोटि का सम्मान भाव भी नही है। इसी कारण यह दुतरफा दुश्चक्र अप्रतिहतगति से चल रहा है। मगर जो देश ससार मे नीति और धर्म की दृष्टि से, सभ्यता, ज्ञान और अध्यात्म के लिहाज से सर्वोपरि कहलाता है, उस देश के प्रजाजीवन की यह दुर्बलता निस्सन्देह सतापजनक है।

व्यापारिक क्षेत्र मे

जब व्यापारिक क्षेत्र पर दृष्टि डालते है तब भी निराशा की सीमा नही रहती। पुरातन काल के व्यापारी वर्ग के साथ आज के व्यापारीवर्ग की तुलना करने पर धरती-आकाश का-सा अन्तर दिखाई देता है। कैसी हीन मनोदशा बन गई है आज के व्यापारी की! मिलावट के कारण लोगो को शुद्ध वस्तु मिलना कठिन हो गया है। मिलावट करना स्पष्ट चोरी है। अपने लिए अधिक तोल लेना और दूसरो को कम तोल देना भी चोरी है। बढिया वस्तु दिखला कर घटिया दे देना भी चोरी है। और हिसाब मे गडबडी करके अधिक ले लेना भी चोरी है। काला बाजार करना भी चोरी है। शासन का उचित देय न देना अर्थात् कर ईमानदारी से न चुकाना भी चोरी है। निषिद्ध वस्तुओ को शासन द्वारा निर्धारित सीमा से बाहर ले जाना या बाहर से लाना भी चोरी है। चोरी का माल खरीदना भी चोरी है। और आज इन सब चोरियो का बाजार गर्म है! व्यापारी की प्रतिष्ठा समाप्त हो रही है और पारस्परिक अविश्वास बढता जा रहा है।

साहित्यिक क्षेत्र मे

साहित्य समाज का मस्तिष्क है और साहित्य-निर्माताओ से यह अपेक्षा रखी जाती है कि उनके आचार मे उच्चता, पवित्रता और सयम हो, जिससे उनके विचार भी दिव्य, भव्य और प्रभावशाली हो सके। मगर यह क्षेत्र भी चोरी के पाप से अछूता नही बचा है।

कोई लेखक जब दूसरो की कृतियो के अशो को इधर-उधर से लेकर इकट्ठा कर लेता है और अपने नाम से उन्हे प्रसिद्ध करता है, तब वह साहित्यिक चोरी के पाप का भागी होता है। पूरी की पूरी परकीय रचना को अपनी रचना के रूप मे प्रसिद्ध करना तो चोरी है ही।

जब कोई लेखक किसी विषय पर ग्रन्थ अथवा निबन्ध आदि लिखने का सकल्प करे तो उचित है कि वह तद्विषयक साहित्य का अध्ययन कर ले। नवीन साहित्यकारो के लिए तो ऐसा करना अत्यावश्यक है। परन्तु ऐसा करते समय प्रामाणिकता रखी जानी चाहिए। रचना का जो अश जिस लेखक का ग्रहण किया है, उसका निर्देश करना चाहिए। इसमे प्रतिष्ठाभग की आशका नही करनी चाहिए, क्योकि प्रत्येक विचारक अपने पूर्ववर्ती विचारको से लाभ उठाता है। मगर उनकी वस्तु को ज्यो की त्यो अपनी बना लेना अपराध है और यह चोरी मे सम्मिलित है।

ब्रह्मचर्य की शक्ति

तवेसु वा उत्तम बंभचेरं

—सूत्रकृताग

आर्यावर्त के महान् मनीषी महर्षियो ने आत्मतत्त्व की गवेषणा करके उसकी शुद्धि के लिए विविध प्रकार के साधना-मार्ग प्रस्थापित किये है। उनमे तपश्चरण एक प्रधान मार्ग है। जैनागमो मे तपश्चरण का जो विस्तृत वर्णन हे, उसे देखते हुए और तपश्चरण का जो व्यापक आन्तरिक और बाह्य स्वरूप दिखलाया गया है, उस पर दृष्टि रखते हुए नि सन्देह कहा जा सकता है कि साधक का जीवन जब तक तपोमय नही बनता तब तक आत्म-शुद्धि का सकल्प कितना ही सबल हो, सफल नही हो सकता।

आत्मशुद्धि और तप

जैसे सोडा-साबुन से वस्त्र निखर जाता है, उसी प्रकार तपस्या से आत्मा का समग्र मैल धुल जाता है और विशुद्ध एव स्वाभाविक स्वरूप चमक उठता है। आग मे पडकर स्वर्ण निर्मल हो जाता है और तपस्या की अग्नि मे आत्मा का समग्र मल भस्म हो जाता है और आत्मा अपने सहज स्वरूप मे देदीप्यमान हो उठता है। अतीत मे जो भी साधक महान् बने है, तपस्या की बदौलत ही। तपश्चरण के लोकोत्तर प्रभाव ने ही उन्हे महत्ता और उच्चता प्रदान की है, वे स्मरणीय, वन्दनीय और आदरणीय बने है। वस्तुत इस जगत मे कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण सकल्प नही, जो तपस्या से साध्य न हो—

> यद् दूर यद् दुराराध्य, यच्च दूरे व्यवस्थितम्।
> तत्सर्व तपसा साध्य, तपो हि दुरतिक्रमम्।

जो वस्तु बहुत दूर की जान पडती है, जिसकी आराधना करना बहुत कठिन है, जो इतनी ऊँचाई पर है कि हमारे बल-बूते की नही मालूम होती, वह तपश्चरण के द्वारा सहज ही साध्य बन जाती है। सक्षिप्त मे कहा जा सकता है कि तपस्या से

अगडाइयाँ लेते यौवन के बदले गठरी की तरह लदा हुआ बुढापा आज जवानो मे दिखाई देता है।

सच्चाई छिप नहीं सकती

इस कमी को पूरा करने के लिए पाउडर, क्रीम आदि प्रसाधन सामग्री का उपयोग किया जाता है, किन्तु वह सामग्री दूसरे दर्शक को धोखा नही दे सकती। धोखा देने का यत्न करने वाला स्वय धोखा खाता है, आत्मवचना करता है और मिथ्या आश्वासन प्राप्त करना चाहता है। बहुमूल्य से बहुमूल्य आभूषण भी मुर्दे मे प्राणो का सचार नही कर सकते। निस्तेज शरीर को कितना ही चमकाने का प्रयत्न करो, उसमे नैसर्गिक दीप्ति का सहस्रवाँ भाग भी नही आ सकता। कदाचित् आ भी गया तो उससे क्या जीवनी शक्ति की वृद्धि हो सकेगी ? कदापि नही।

आवश्यकता इस बात की है कि जीवन-निर्माण काल मे, अर्थात् कम से कम आयु के प्राथमिक चतुर्थाश मे मनुष्य सब प्रकार के विलासमय सपर्को से पृथक् रह कर पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करे। तत्पश्चात् यदि ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन शक्य न हो और विवाहित जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ करे तो भी सद्गृहस्थ की धार्मिक मर्यादाओ का अवश्य पालन करे। इन मर्यादाओ मे दो मुख्य है—

पहली बात यह है कि—विधिवत् परिणीत पत्नी के अतिरिक्त अन्य समस्त रमणियो के प्रति माता-बहिन की भावना स्थापित करे। दुर्भावना के वश होकर उनके प्रति किसी प्रकार की कुचेष्टा न करे उन पर कुदृष्टि न डाले।

दूसरी बात यह है कि—स्वस्त्री के प्रति भी अत्यासक्ति से बचे। इसका आशय यह नही कि पत्नी के प्रति प्रीति मे कमी करे। प्रीति और आसक्ति के अन्तर को समझना चाहिए। आसक्ति मे वासना का विष मिश्रित होता है, प्रीति मे निर्मल प्रेम की ही विमल धारा प्रवाहित होती है।

अत्यासक्ति का अर्थ है—पर्व आदि तिथियो मे ब्रह्मचर्य का पालन न करना, तथा अमर्यादित रूप मे भ्रष्ट होकर और वीर्य का विनाश करके शरीर को खोखला कर डालना।

इन दो मर्यादाओ का पालन करने के लिए जो नियम आवश्यक है, उनका भी ध्यान रखना चाहिए।

सिनेमा और ब्रह्मचर्य

इस युग मे सिनेमा का जो नया ससार सर्जित हुआ है, वह इस चीज का ज्वलन्त उदाहरण है कि मनुष्य अपने स्वार्थ मे अन्धा होकर किसी प्रकार मगल को भी अमगल के रूप मे परिणत कर सकता है। चित्रपटो द्वारा जनता को और विद्यार्थियो को जीवन-निर्माण की सुशिक्षा दी जा सकती है, मगर आज किस प्रकार

रमण करना । पर-पदार्थों मे पराङ्मुख होकर अपने ही स्वरूप मे लीन होना पूर्ण ब्रह्मचर्य है और यही मुक्ति का साक्षात् कारण है । साधारणतया मैथुन-त्याग ही ब्रह्मचर्य माना जाता है परन्तु ब्रह्मचर्य के सूक्ष्म और विशद स्वरूप पर विचार करने से विदित होता है कि समस्त इन्द्रियो की एव मन की बहिर्मुख प्रवृत्ति का परित्याग करने से ही इस महान् व्रत मे पूर्णता आती है । अन्य इन्द्रियो के सयम के बिना स्पर्शेन्द्रिय का पूर्ण सयम सम्भव नही है । इसलिए शास्त्रकारो ने ब्रह्मचर्यव्रत की नौ वाडो का वर्णन करते हुए जिह्वा और चक्षु आदि इन्द्रियो के सयम की आवश्यकता प्रतिपादित की है । ब्रह्मचर्य के साधक को उन्मादजनक, गरिष्ठ, कामवर्द्धक और अधिक मात्रा मे भोजन नही करना चाहिए । नेत्रो मे रागजनक रूप नही देखने चाहिए और अन्य इन्द्रियो को भी सदा नियन्त्रित रखना चाहिए ।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य की साधना करने वाला समस्त लौकिक कल्याणो के साथ परम लोकोत्तर कल्याण का भी भागी होता है ।

☆

रिक्त कोई भी भौतिक पदार्थ आत्मा का नही है। जैनाचार्य अमितगति भावपूर्ण शब्दो मे उद्घोषणा करते है—

> यस्यास्ति नैक्य वपुषाऽपि सार्ध,
> तस्यास्ति कि पुत्रकलत्रमित्रै ।
> पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपा,
> कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥

अर्थात्—शरीर के साथ भी जिसकी एकता नही है, पुत्र, कलत्र और मित्र आदि स्पष्ट रूप मे भिन्न दिखाई देने वाले पदार्थों के साथ उसकी एकता किस प्रकार हो सकती है। चमडी उतार देने के पश्चात् शरीर मे रोमकूप कैसे ठहर सकते है?

और जब पुत्र कलत्र आदि जन भी आत्मा के नही बन, भवन और वसन आदि जड पदार्थ आत्मीय हो सकते है, यह सम्भावना ही कैसे की जा सकती है?

सुख का सुधास्रोत

इस तथ्य को हृदयगम करके जो भद्र पुरुष समस्त पर-पदार्थों को आत्मभिन्न समझ लेता है, वह उनके सयोग मे सुख और वियोग मे दुःख का अनुभव नही करता। उसका उपयोग समभाव की प्रधानता है, वहाँ न तो बाह्य पदार्थों के प्रति लालसा, तृष्णा रहती है और न उन्हे उपलब्ध करने के लिए पापाचार किया जाता है। ऐसी स्थिति मे जगत् की कोई घटना या कोई भी वस्तु आत्मा मे क्षोभ नही उत्पन्न कर सकती। परिणामत इसी जीवन मे अलौकिक आनन्द का सुधास्रोत प्रवाहित होने लगता है।

कामनाओ पर विजय

मानव मानता है कि सोने, चाँदी और जवाहरात से भरी यह तिजोरी मेरी है, गगनस्पर्शी यह हवेली मेरी है और चारो ओर बिखरा हुआ यह वैभव मेरा है और उस पर मेरा अधिकार है। किन्तु एक क्षण आता है जब उसका अहकार चूर-चूर हो जाता है, उसका स्वप्न भग हो जाता है और समग्र वैभव उसके अधिकार को चुनौती देता हुआ अपनी राह पकडता है। वैभव का अभिमानी स्वामी यह देखकर खिन्नमना है, दीन बन जाता है, मगर वह वैभव उस पर तनिक भी करुणा नही करता।

तो असदिग्ध है कि जागतिक पदार्थों मे ममत्वबुद्धि स्थापित करना और उनकी कामना करना ही दुःख का उद्गमस्थल है। श्रमण भगवान महावीर ने दुःखो से छुटकारा पाने का एकमात्र और निश्चित उपाय यही बतलाया है—

> कामे कमाही,
> कमियं खु दुक्ख

—दशवैकालिक अ २

अवि अप्पणो वि देहम्मि,
नायरंति ममाइय ।

—दशवैकालिक

देह देह है तो रहे। देह है तो उसके निर्वाह का साधन प्रस्तुत कर देंगे। न रहे तो चला जाय। जो वस्तु पराई है, उसके आने मे हर्ष क्या और जाने मे विषाद क्या?

इस प्रकार की निर्लेपदशा प्राप्त हो जाने पर ही परमात्मावस्था प्रकट होती है।

उधर बहिरात्मा—अज्ञान जीव बाह्य पदार्थों को अपना मान कर उनके अर्जन और सरक्षण मे ही सलग्न रहता है। वह अर्जन के लिए नाना प्रकार के कष्टकर प्रयास करता है। अनेक प्रकार की पापपूर्ण आजीविकाएँ करता है। पाप-पुण्य की,नीति-अनीति की, धर्म-अधर्म की परवाह नही करता। उसका एकमात्र लक्ष्य भोगोपभोग की सामग्री को अधिकाधिक प्राप्त करना ही होता है। कदाचित् भाग्य ने साथ न दिया तो उसकी मनोवेदना का पार नहीं रहता और अपने जीवन को निस्सार, निस्सत्त्व और हीन समझने लगता है। दिन-रात व्याकुल रहता है और आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान मे ही काल-यापन करता है। कदाचित् अनुकूल सयोग मिल गये और इच्छित पदार्थ प्राप्त हो गये तो उसका दुःख दुगुना हो जाता है। प्रथम तो इच्छा आगे बढ जाती है और उसकी पूर्ति के लिए पहले के समान ही प्रयास चालू रहते है। दूसरे, उपार्जित पदार्थों के सरक्षण की नवीन चिन्ता उत्पन्न हो जाती है। और जब उपार्जित द्रव्य विनष्ट हो जाता है तब तो कहना ही क्या! उसके शोक और उद्वेग की कोई सीमा ही नही रहती।

इस प्रकार तृष्णा और ममता वाला मनुष्य किसी भी स्थिति मे सुख, शान्ति या सन्तोष प्राप्त नही कर पाता।

परिग्रह पाप का मूल

परिग्रह के लिए लोग हिंसा, झूठ, चोरी आदि अनेक पापो का आचरण करते है। अतएव परिग्रह सभी पापो का कारण है। ज्ञानियो ने इसे अनर्थ का मूल कहा है। किन्तु आश्चर्य होता है यह देखकर कि अपरिग्रह को धर्म मानने वाले और परिग्रह को पाप स्वीकार करने वाले समुदाय मे भी परिग्रही को पापी नही समझा जाता। जिस प्रकार हिंसक के प्रति घृणा व्यक्त की जाती है, मृषावादी को अनादर दृष्टि से देखा जाता है, चोरो-लुटेरो के प्रति हीन-भाव प्रदर्शित किया जाता है और व्यभिचारी को घृणित समझा जाता है उसी प्रकार परिग्रही को पापी नही किन्तु पुण्यात्मा आदरणीय समझा जाता है। कदाचित् हमारा त्यागीवर्ग भी उन्हे अधिक महत्त्व देता है। यह मनोदशा प्रकट करती है कि परिग्रह का पाप समाज की नस-नस मे व्याप्त है—
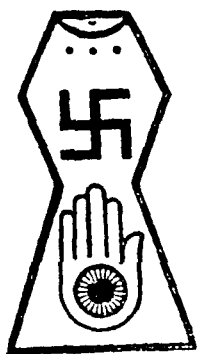
भाषण-कला का चमत्कार

हिटलर का कहना था कि सभी युगान्तकारी क्रान्तियों का जन्म लिखित शब्दों में नहीं बल्कि ध्वनित शब्दों से हुआ है। वाक्य-बल से जो कार्य हो सकता है वह तलवार के बल से नहीं हो सकता। इतिहास साक्षी है, भगवान महावीर, महात्मा बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, अरस्तू, मार्टिन ल्यूथर, अब्राहम लिंकन, क्रामवेल, जार्ज वाशिंगटन, नेपोलियन, चर्चिल, हिटलर, लेनिन, स्तालिन, शंकराचार्य, दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द, रामतीर्थ, महात्मा गांधी, सुभाष बोस आदि ने अपने ओजस्वी भाषणों द्वारा जो धर्म, समाज एवं राजनैतिक क्षेत्र में क्रान्ति का शंख फूंका वह किस से छिपा हुआ है?

प्रस्तुत उपक्रम का महत्त्व

'धर्म का कल्प वृक्ष : जीवन के आंगन में' एक जीवनदर्शी सफल अभिभाषक सन्त के अभिभाषणों का सुन्दर सरस संग्रह है, जो आधुनिक समाज को उद्बुद्ध करने वाले हैं। युगधर्म की व्याख्या को सही माने में चरितार्थ करने वाले हैं और समाज के सर्वांगीण हित में योगदान देने वाले हैं। इन प्रवचनों में व्यर्थ के काल्पनिक, आदर्शों की गगन-विहारी उड़ान नहीं है, न बौद्धिक विलास ही है और न धर्म, सम्प्रदाय, राष्ट्र के प्रति व्यक्तिगत या समूहगत आक्षेप ही है। अभिप्राय यह है कि प्रस्तुत पुस्तक के सभी भाषण जीवन-स्पर्शी हैं, जीवन को उन्नत बनाने वाले हैं। जिन्दगी की सही मुस्कान को खिलाने वाले हैं, दिल और दिमाग को तरोताजा बनाने वाले हैं। समाज की विषमता और अभद्रता को मिटाने वाले हैं, प्राचीनता में नवीनता का रंग भरने वाले हैं। धर्म और राष्ट्र की अन्ध-स्थिति को ज्योतिर्मय बनाने वाले हैं क्योंकि इन भाषणों में त्याग और वैराग्य का अखण्ड तेज चमक रहा है। अनुभव का प्रकाश जगमगा रहा है। आत्म साधना का गम्भीर स्वर गूंज रहा है और मानवीय सद्गुणों के प्रतिष्ठान की मधुर सौरभ महक रही है।

प्रवचन | पृष्ठ

☆

धर्म और जीवन

2 Love of labour (श्रम के प्रति प्रेम)
3 Love of people (जनता के प्रति प्रेम)
4 Love of science (विज्ञान के प्रति प्रेम)

किन्तु इन चारो मे मानवता के प्रति 'प्रेम' की बात या जगत् के प्रति प्रेम की बात नही कही गयी है। इसी कारण आज ये पाच सूत्र उनके सामने होते हुए भी वे शस्त्रास्त्र वृद्धि की धुन मे है, विश्व के प्रति प्रेम की बात उनके गले नही उतर रही है, जबकि भारतवर्ष के महामनीषियो और 'धर्म-प्रवर्त्तको ने विश्वमैत्री, विश्वबन्धुत्व, अद्वैत और आत्मवत् सर्वभूतेषु की बात कहकर विश्वप्रेम का नारा सदियो पहले से लगा दिया था। सत विनोबा का 'जय जगत्' का नारा भारतवासियो के हृदय का हार बन गया है और भारत के लोग सारे विश्व के साथ प्रेम करने को तैयार है। यहाँ ज्ञान-विज्ञान की इतनी वृद्धि होते हुए भी मानव-सहार के लिए अणु-अस्त्रो का प्रयोग अभी तक नही किया गया है, और न ही भविष्य मे करने का विचार है। फिर भी यह तो कहना ही पडेगा कि आधुनिक विज्ञान के सम्पर्क से भारत मे भी लोगो का प्रेम की शक्ति पर से विश्वास उठता जा रहा है। वे प्रेम के गीत बडे लहजे से गाते है, प्रेम की प्रशसा करते अघाते नही है, प्रेम पर घण्टो भाषण भी झाड देते है, परन्तु उनका विश्वास प्रेम की अपेक्षा सामान्य शस्त्रास्त्रो पर या शस्त्रधारी मिलिट्री या पुलिस पर ही अधिक है। प्रेम की अपेक्षा पैसे पर उनका भरोसा अधिक बढता जा रहा है। शस्त्रो के शैतानी पजे से हम बहुत अधिक परिचित है, युद्धो के विनाशकारी परिणाम भी हमे ज्ञात है। गत दो महायुद्धो के कटुफल को हमने अपनी आखो से देखा है, भूतकाल के रामायण और महाभारत के युद्ध इतिहास के पृष्ठो से हम जानते है, मध्यकाल के राजाओ के आपसी युद्धो का कटुफल हम भोग चुके है। जातिवाद, सम्प्रदायवाद, भाषावाद और प्रान्तवाद के नाम से आये दिन भारत मे सघर्ष होता है, और उसमे प्रेम की हत्या अपने हाथो से कई बार भारत कर चुका है, फिर भी पता नही, अब तक क्यो वह मोह की कुम्भकर्णी निद्रा मे सोया हुआ है, उन्ही बातो को बार-बार दुहरा रहा है और राष्ट्र के आन्तरिक युद्ध की ज्वाला को बढाता जा रहा है।

पडोसी देश के घटनाचक्रो को हमने अपने सामने होते देखा है। भारत से लडने के लिए पाकिस्तान ने अमेरिका से शस्त्रास्त्र खरीदे है और देश की ६०-७० प्रतिशत आय उसने शस्त्रो की खरीद मे फूंक दी। नतीजा हमारे सामने है कि पाकिस्तानी राजनीतिज्ञो के लिए वही शस्त्रास्त्र शक्ति भस्मासुर की तरह अभिशाप सिद्ध हुई। सैनिक सहायता ने राजनीतिज्ञो को नेस्तनाबूद करके वहा एकच्छत्र सैनिक-राज्य कायम हो गया। क्या अब भी हमारी आखे खुलने वाली नही है? क्या शस्त्रास्त्र शक्ति विश्वशान्ति लाने मे कभी सहायक हुई है? प्रेम की प्रबल-शक्ति ही विश्वशान्ति को कायम कर सकती है, यह जानते हुए आये दिन होने वाले दगो मे भारतवासी लोग बदूक, पुलिस और हथियारो का प्रयोग पसन्द करते है, उन्हे प्रेम की ताकत पर